गगनाञ्चल

वर्ष 14 अंक 3-4 1991

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

प्रकाशक

वीणा सीकरी, महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली 110002

सहायक संपादक

डॉ अमरेंद्र मिश्र

आवरण

कांतिराय

मुद्रक

विमल ऑफसेट
1/11804, पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु 5 00	रु 20 00	रु 50 00
£ 1 00	£ 4 00	£ 10 00
$ 2 50	$ 10 00	$ 25 00

ISSN 0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन-हराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली, अरबी (सक़ाफ़त-उल-हिंद) स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रेकौंत्र अवेकलैंद) भाषाओं में हैं। हिंदी और अंग्रेजी की शुल्क दर नीचे दी गयी है। स्पेनिश, फ्रेंच और अरबी त्रैमासिक निःशुल्क हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट
नयी दिल्ली-110002

गगनाञ्चल

वर्ष 14 अंक 3-4 1991

गोष्ठी

रंगमंच

पुस्तकें

सांस्कृतिक एकता और लोक काव्य

नर्मदा प्रसाद गुप्त

भारत जैसे उपमहाद्वीप मे जहाँ छोटे-बड़े अनेक अंचल हैं और एक दूसरे से भिन्न कई धर्म हैं, वहाँ सांस्कृतिक एकता की चर्चा निरर्थक नहीं है। सास्कृतिक एकता पर विचार करना और उसके साथ लोक काव्य को परखना बहुत जरूरी है।

यह सही है कि हर अचल की अपनी निजता होती है। अपनी लोक भाषा, अपनी जमीन और जलवायु तथा अपने इतिहास की थोड़ी-बहुत भिन्नता के कारण उसकी संस्कृति और लोक संस्कृति मे कुछ-न-कुछ अंतर आना स्वाभाविक है। किसी अंचल की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कुछ लोक मूल्य प्रधान हो जाते हैं जबकि दूसरे अचल मे वे सुसुप्त रहते हैं। मेरा आशय यह है कि हर अचल की अपनी अस्मिता है, अपना रग है और अपनी छवि है। इन विविधताओं के कारण अंचल की लोक संस्कृति को संकीर्ण ठहराकर सांस्कृतिक एकता में बाधक माना जाता है। लेकिन सच यह है कि जिस तरह अंचल राष्ट्र का एक अंग है, उसी तरह आंचलिक संस्कृति भी राष्ट्रीय संस्कृति का एक हिस्सा है। फिर राष्ट्रीय संस्कृति की बुनावट आंचलिक संस्कृतियों के ताने-बाने से ही होती है। उनमें निहित समानधर्मी तत्व ही राष्ट्रीय संस्कृति के मेरुदण्ड हैं।

लोक संस्कृति को समझने में कई भ्रांतियों का सहारा लिया गया है। लोक संस्कृति और लोक साहित्य के केंद्र 'लोक मानस' को ही ठीक से नहीं समझा गया। लोक साहित्य के गहरे पारखी डा. सत्येंद्र ने पश्चिमी मनोविज्ञान वेत्ताओं की तरह उसे 'इनहेरिटेड' या उत्तराधिकारीय मानस माना है और उसकी व्याख्या करते हुए उसे 'प्राकृतिक आदिम मानस' कहा है। यदि लोक मानस आदिम मानस है और किसी भी परिस्थिति में अपने रूढ़ मूल को नहीं छोड़ता तो उसके विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह के मानस में युगबोध की संपृक्ति की गुंजाइश नहीं। स्पष्ट है कि इस तरह की भ्रांत धारणा से लोक संस्कृति आदिम और स्थिर समझी जाती है और लोक काव्य भी। लेकिन 1857 ई. की आजादी की लड़ाई, राष्ट्रीय आंदोलन, गांधी और अभी के मँहगाई संबंधी समकालीन लोक गीतों में क्रियाशील लोक मानस क्या लोक मानस नहीं है?

एक दूसरी भ्रांति लोक संस्कृति के निर्धारण में है। अक्सर इस्लाम के पूर्व और बाद के, मुगल युग और अंग्रेजों के समय प्रचलित लोक गीतों को लेकर किसी अंचल की लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति एक सामान्य प्रणाली बन गयी है। इस तरह लोक संस्कृति के स्थिर रूप की कल्पना तो कर ली गयी है, पर उससे किसी युग की लोक संस्कृति का कोई रूप प्रकाश में नहीं आ पाया। लोक संस्कृति एक गतिशील प्रवाह है जो हर युग की आवश्यकता के अनुसार अपनी धारा में बदलाव लाता है। उसका अपना इतिहास है और

अपने उतार-चढ़ाव। अतएव उसे जड़ या स्थिर मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार लोक मानस का भी अपना इतिहास है। हर युग की परिस्थिति के अनुसार लोकगीत रचे जाते हैं और वे लोक मुख में तब तक जीवित रहते हैं जब तक समाज में उनकी उपयोगिता है। इस कारण सभी लोक गीतों को पुराना, आदिम और जड़ मान लेना न्यायपूर्ण नहीं है।

कुछ विद्वान लोक संस्कृति को अशिक्षित या गँवारों की संस्कृति मानते हैं जबकि लोक संस्कृति उस लोक की संस्कृति है जिसमें सभी वर्ग आ जाते हैं। उसमें वर्गवैषम्य के लिए कोई स्थान नहीं है। चाहे शिक्षित हो, चाहे अशिक्षित और चाहे गरीब हो, चाहे अमीर, लोक संस्कार, लोक मूल्य और लोकाचार सबके लिए एक अर्थ रखते हैं। उसके लोक दर्शन में किसी विशिष्ट-दर्शन और मतवाद तथा उसके लोक धर्म में किसी सांप्रदायिकता और कट्टर धार्मिकता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार कट्टर धार्मिकता और सांप्रदायिकता की विषाक्तता तथा वर्गवाद और जातिवाद की पक्षधरता से मुक्त लोक संस्कृति जुड़ाव की संस्कृति है, अलगाव की नहीं।

लोक संस्कृति का घटक मनुष्य केवल मनुष्य होता है जो मनुष्यत्व की सपूर्ति मे लगा रहता है। जीवन को जीने में उसकी आस्था है, संहार करने मे नहीं। वह अर्थ से बँधी है, पर उसकी केंद्रीय शक्ति अध्यात्म है। कुण्ठा, निराशा और अनास्था की मनोस्थितियों से व्यक्ति ही नहीं, परिवार तक टूट जाता है, लेकिन लोक संस्कृति की सहज आशा और आस्था उसे जोड़े रखती है। लोक संस्कृति के संस्कारों, त्यौहारों, रीतिरिवाजों आदि ने व्यक्ति को व्यक्ति और परिवार से बाँधने का ऐसा प्रयत्न किया है कि मशीनी यांत्रिकता और विज्ञानी बौद्धिकता के लगातार हमले उसे तोड़ नहीं सके। असल मे, लोक संस्कृति में वह रस है जो निर्जीव को भी अपनी संजीवनी से हरा-भरा रखता है; वह कर्माश्रयी ऊर्जा है जो विजातीय तत्वों से जूझती रहती है, और वह समन्वयकारी स्वच्छंदता है जो परंपरा का विकास करती है।

लोक संस्कृति में सामूहिक सामाजिकता की चेतना काम करती है जो पारस्परिक सहानुभूति या प्रेम के आधार पर सबको जोड़ती है। किसी भी तरह के भेदभाव से मुक्त होने के कारण उसकी पाचनशक्ति बहुत तेज है। उसमें आर्य, द्रविड़, निषाद, किरात और अनेक जनजातीय संस्कृतियों के तत्वों का संघटन मिलता है। विचित्र तो यह है कि जो भी लोक के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ, वह लोक संस्कृति बन गया। लोक संस्कृति भारतीय संस्कृति की जड़ है जिसके रस से भारतीयता का पौधा हरा-भरा रहता है, फूलता-फलता है। अगर जड़ नष्ट हो गयी, तो पौधा भी सूख जाएगा। आज जब मम्मी-डैडी जैसे संबोधन हमारे घरों में घुस गये हैं और बाई-दद्दा धीरे-धीरे बाहर निकाले जा रहे हैं, तब भारतीय संस्कृति के लिए एक खतरा पैदा हो गया है। अगर गहराई से सोचें, तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि लोक संस्कृति भारतीयता की रक्षा कर रही है। परिवार टूटता है। समाज बिखरता है, लेकिन लोक संस्कृति के उत्सव उसे एक करते हैं। देश बँटता है, लेकिन लोक संस्कृति के गीत उसे समेटते हैं। लोक संस्कृति जुड़ाव की संजीवनी बूटी है जो सांप्रदायिकता की शक्ति के घातक घाव का एक [illegible]

लोक संस्कृति का व्यापीकरण बहुत जरूरी है।

लोक काव्य संस्कृति के चित्रों का एक ऐसा एलबम है जिसमें हर युग का इतिहास प्रतिबिंबित हुआ है। यदि लोक गीतों का काल-निर्धारण कर उनकी विषयवस्तु का अध्ययन किया जाय, तो हर युग की लोक संस्कृति का सही स्वरुप मिल सकता है। असल में, लोक गीतों पर यह आरोप मढ़ दिया जाता है कि वे आंचलिकता या स्थानीयता के कारण संकीर्ण हैं और उनमें अलगाव की प्रवृत्ति है। इस प्रकार उनकी मूल चेतना और जातीयता को अनदेखा किया जाता है। इस सब के पीछे लोक गीतों को 'आदिम' या 'बहुत पुराने' मानने की धारणा रही है, जोकि सत्य नहीं है। ठीक इसके विपरीत, लोक गीतों को सांस्कृतिक एकता का माध्यम बनाने का कार्य लोक कवियों ने किया है।

यह ठीक है कि हर अंचल के लोक गीतों की प्रकृति अपनी निजता रखती है, इसलिए उनमे वैविध्य दिखाई पडता है। अगर मध्यप्रदेश के अंचलो का लोक काव्य भावना की सापेक्षता मे देखा जाय, तो यह विविधता स्पष्ट हो जाएगी। उपजाऊ धरती मे उगे और कृषिप्रधान लोक संस्कृति मे पले-पुसे मालवी लोक गीतो मे संतोष और शांति की भावना अधिक है जबकि विंध्य और सतपुड़ा के बीच नर्मदा मे नहाई कछारी धरती के भोलई निमाडी गीतो मे प्रेम और सौंदर्य की प्रमुखता है। दण्डकारण्य की वन्य हवाओं से क्रीडा करती धान की लहलहाती फसलो मे झूमते छत्तीसगढ़ी गीतो मे स्वच्छंद श्रृगार की प्रवृत्ति है, तो घने जगलो और कठोर चट्टानो से घिरी हरियर धरती से फूटे बघेली गीतों मे कर्म और करुणा की। विंध्य के पथरीले-कँटीले देसा मे जन्मे तथा अपने अस्तित्व और स्वातंत्र्य के लिए जूझने वाले बुंदेली गीत वीरता और जातीय गौरव की भावना से पुष्ट है। वस्तुत ये सभी विविधताएँ मध्यप्रदेश के हृदय-सरोवर की भाव तरगे है जो एक ही संस्कृति की जलराशि से तरगायित हैं।

दरअसल, लोक भाषा और लोक वातावरण में लिपटा अंतरंग एक है। सभी अंचलों के लोक गीतो में सस्कारो की एकरूपता है, एक से मानवीय रिश्तो की व्यंजना है और लोक कल्याण का एक ही लक्ष्य है। प्रेम, त्याग, वीरता, बलिदान, भाग्य, कर्म, सतीत्व, शील जैसे लोक मूल्य सभी में मिलते हैं। सभी में एक लोक धर्म है जो किसी भी स्तर पर सांप्रदायिक नहीं है और जिसमें हर देवता सामान्य मानव बनकर अवतरित हुआ है। कुछ ऐसे विषय हैं जो सभी में समान महत्व पा गये हैं। उदाहरण के लिए चंदन का पालना, रेशम की डोर, मोतियों से चौक पूरना या माँग भरना, सोने के गडुआ गगाजल पानी, मोहन भोग मगद के लडुआ आदि से लेकर सती माता, श्रवण कुमार, भरथरी, राम, कृष्ण आदि के लोकादर्शों तक की पैठ सर्वत्र है। कुछ लोक गीतों ने हर अंचल में भावयात्रा की है। एक उदाहरण देखें, बेटी की विदा के गीत में कुछ पंक्तिया हैं—

<u>बुंदेली</u>

माई के रोये से नदिया बहत है, बाबुल के रोये बेलाताल, मोरे लाल।

बीरन के रोयें छतिया फटत है, भौजी के जियरा कठोर, मोरे लाल।।

बघेली

बापा के रोये नदिया बहति हैइ, माया के तरोये तलबा।
भइया के रोये हिया फटति हइ, भउजी जी बइना कठोर।।

छतीसगढ़ी

दाई तोला रोबै नोनी हरर हरर ओ, ददा रोवै गंगा बोहावै।
भइया तोला रोवै नोनी भींजै पिछौरी, भौजी के नैना कठोर हो।।

मालवी

मैया की अँखियन से गंगा बहत है, बाबुल की अँखिया तलाब।
भैया की अँखियन से नदिया बहत है, भाभी को हृदय कठोर।।

सास-ननद का बहू के प्रति द्वेषभाव और फलस्वरूप पारिवारिक कलह एक ऐसा कठोर यथार्थ है जो सभी अंचलों में मौजूद है और जिसने भाभी की प्रतिष्ठा को काफी नीचे गिरा दिया था, लेकिन बुंदेली के हरदौल गीतों ने भाभी के प्रेम और त्याग को बहुत ऊँचाई देकर पुराने लोक मूल्य को बदलने की कोशिश की है। आपको आश्चर्य होगा कि हरदौल के चबूतरे पूरे उत्तर भारत में मिलते हैं। ऐसे बदलाव लोक काव्य की सचेतनता के प्रतीक हैं और यह सचेतनता हर अंचल में है।

लोक कथाओं की कथानक रूढ़ियों और अभिप्रयाओं में काफी समानताएँ हैं, यहाँ तक कि एक अंचल की लोक गाथा भाषायी ओढ़नी ओढ़कर दूसरे अंचलों में प्रवेश कर गयी है। ठीक उसी तरह जैसे एक अंचल की बिटिया दूसरे अंचल की बहू बनकर घर की शोभा बढ़ाने लगती है। आल्हा, श्रवणकुमार, ढोला-मारू, भरथरी आदि गाथाएँ तो अब राष्ट्र की संपत्ति हो गयी हैं। आल्हा गाथा भारतीय सेना के सैनिकों में वीर रस का संचार करने में अग्रणी हैं। श्रवणकुमार माता-पिता की सेवा और ढोला-मारू प्रेम की एकनिष्ठता का आदर्श जन-जन में जाग्रत करती है। भरथरी में अध्यात्म की भावना है। सभी गाथाएँ विविध क्षेत्रों में समरसता और एकता के बीज बोती हैं जिनसे संस्कृति की उपजाऊ फसलें पैदा होती हैं।

लोक काव्य में आंचलिक संकीर्णता और कट्टरता की भावना कभी नहीं रही। कुछ उदाहरण इस मान्यता की पुष्टि करते हैं क्योंकि उनमें दूसरे अंचलों के प्रति किसी-न-किसी रूप में श्रद्धा का भाव है। एक तरफ बुंदेली नारी की भीतरी कसक है—'सखी री, मैं तो भई न बिरज की मोर', तो दूसरी तरफ निमाड़ी की धुन गूँजती है—'ओ देवी गंगा, वहे हो सुरंगा, थारी झबर म्हारो निरमल अंगा'। छत्तीसगढ़ी भोजली गीत में 'देवी गंगा, लहर गंगा,

तुहरे लहर परभू, भीजी आठो अंगा' द्वारा गंगामाता की स्तुति की गयी है, तो मालवी में 'सरस गंगा मई की आरती कीजो, आरती कीजो चरनामृत लीजो' से गंगा के प्रति पूजा की पवित्र भावना प्रकट होती है। और भी उदाहरण हैं जिनसे देशप्रेम और राष्ट्रीय चेतना झलकती है।

इसी संदर्भ में यह कहना उचित है कि लोक काव्य में तत्कालीन राष्ट्रीयता के विविध चित्र अंकित हुए हैं। एक तरफ देशप्रेम और राष्ट्रीय एकता की शाश्वत भावना कई रूपों में उभरी है, तो दूसरी तरफ संकल्पित संघर्ष की जुझारू छवियाँ बार-बार चमकी हैं। पहले रूप की राष्ट्रीयता गिरि, वन, सरिता, वृक्ष आदि देश के विभिन्न अंगों के प्रति प्रेमभाव में है और स्वतंत्र अभिव्यक्ति में भी। कुछ पंक्तियाँ देखें—

बुंदेली

> नरबदा अरे माता तो लगै रे,
> माता तो लगै तिरबेनी लगै मोरी बैन रे, नरबदा हो . . ।

आदिवासी

> देस काजे जिउक सिखूँ, देस काजे मरूक सीखूँ,
> देस सेवा करूँ माता, तुचो जय जय गाऊँ माता।
> भारत माता भारत माता, तुचो जय जय गाऊँ माता।

बुंदेली की मनोगूजरी जैसी गाथाओं मे विदेशी आक्रमणकारी से जूझने का निराला संकल्प है। केवल शस्त्रों से नहीं, वरन् भीतरी ऊर्जा से भी। मनोगूजरी संघर्ष की आस्था है जो मध्ययुग में बहुत भीतर से जागरूक थी। बुंदेली और बघेली में अंग्रेजों के खिलाफ जूझने के लोक गीत हैं। मालवी पवाड़े भी इसी तरह की बलिदानी भावना से भरे हैं। चैनसिंह के पवाड़े में चैनसिंह फिरंगियों से लोहा लेता है और अपना सीस कट जाने पर धड़ से जवाब देता है। 17 वीं शती में अग्निदास ने जो 'कड़ाका' गाया था, वैसे कड़खे बुंदेलखण्ड में बीसवीं शती के प्रथम चरण तक प्रचलित रहे हैं। आजादी के लिए मर-मिटने का स्वर लोक काव्य में हमेशा गूँजा है और हरबोलों और गाथाओं को गा-गाकर शूरवीरों को लड़ाई के लिए तैयार किया है—

> काऊ ने सैर भाषे काऊ नें लावनी।
> अबके हल्ला में फुँकी जात छावनी।।

बाद में गांधी के गीत अहिंसक संघर्ष के प्रतीक बने और चरखे उसके हथियार। हजारो गीत रचे गये। अकाल, युद्ध, स्वतंत्रता-संग्राम जैसी राष्ट्रीय घटनाओं, आल्हा, छत्रसाल, रानी लक्ष्मीबाई, गांधी बाबा जैसे राष्ट्रीय व्यक्तित्वों और मँहगाई, देहज, अनमेल विवाह, अंग्रेजी फैशन, अंग्रेजी भाषा जैसी राष्ट्रीय समस्याओं को केंद्र में रखकर जो लोक काव्य रचा गया है, उसे ध्यान में न रखना इतिहास को नकारना है। क्या यह सब संकीर्ण क्षेत्रीयता

का लोक काव्य है या सचमुच राष्ट्रीय चेतना का ?

लोक भाषाओं के साहित्य पर संकीर्णता और पक्षधरता के आरोप थोपने का हक फैशन सा चल पड़ा है। क्या ये आरोप नगरी साहित्य पर लागू नहीं होते? नगरी काव्य में नगरी लोक का जीवन चित्रित हुआ है। परिनिष्ठित काव्य में भी अधिकतर नगरी जीवन की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं, गाँव के लोक जीवन से उसका परिचय बहुत कम रहा है। ग्रामवासिनी भारतमाता का चित्र बोलियों के काव्य में मिलता है, और उसके बिना न तो संपूर्ण राष्ट्र की चेतना का प्रतिनिधित्व हो सकता है और न राष्ट्र के समूचे व्यक्तित्व की कल्पना की जा सकती है। लोकतंत्र में गाँव और नगर दोनों के खाते चलते हैं। वैसे बहुसंख्यक गाँवों की महत्ता अधिक होनी चाहिए, लेकिन चतुर अल्पसंख्यक नगर बाजी मार ले जाते हैं। नगर में साहित्य की संस्थाएँ हैं, केंद्र हैं और अनेक सुविधाएँ हैं जबकि गाँव पिछड़ा है। इसी वजह से लोक काव्य की पूछ कम होती है। उसे साहित्य के इतिहास में स्थान तक नहीं दिया जाता। संकीर्णता और वर्गवद्धता नागरी और परिनिष्ठित साहित्य में अधिक होती है जबकि लोक काव्य लोक सहज होने के कारण इनसे मुक्त रहता है। उसमें सांप्रदायिकता, वर्गवाद, शिविर धर्मिता और पुरस्कार धर्मिता के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। अब आप ही निर्णय लें कि ऐसा-काव्य जो तमाम संकीर्णताओं, भेदभावों और पक्षधरताओं से दूर है, राष्ट्रीय काव्य का सच्चा उदाहरण है या नहीं। मैं तो दावे के साथ कहता हूँ कि काव्य को राष्ट्रीय बनने के लिए पहले लोक काव्य होना पड़ेगा।

मैं सांस्कृतिक एकता के उस मनोविज्ञान को रखना चाहता हूँ जो आज के संदर्भों में अधिक प्रासंगिक है। आज का व्यक्ति भौतिकता की होड़ और जीवन की यांत्रिकता से पूरी तरह घिर गया है। कुण्ठित और हताश मानसिकता से अंकुआया उसका खण्डित मन पारिवारिक कलह और टूटन तथा सामाजिकता की उपेक्षा जैसी परिणति को पोसता रहता है। बिखराव और अलगाव की प्रवृत्ति हावी होती जाती है और फल यह होता है कि जुड़ाव की प्रवृत्ति कमजोर पड़ जाती है। परिनिष्ठित काव्य में मानसिक तनाव की जटिल अनुभूतियाँ व्यंजित हुई हैं और यह सच है कि वह सूक्ष्म अनुभूतियों के अंकन में सफल है जबकि लोक काव्य ऐसे अभिव्यक्ति कौशल में बहुत कमजोर है, लेकिन क्या इस हुनर से जुड़ाव की मानसिकता बनती है। क्या इससे भावात्मक या सांस्कृतिक एकता का कोई नया मार्ग खुलता है? इसके विपरीत, लोक काव्य में मन की उत्फुल्लता, आशा और आस्था के आवेग उतराते रहते हैं जिनके आस्वादन से एक ऐसी शक्ति आती है जो पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जुड़ाव के रिश्तों को मजबूत करती है। लोक काव्य में व्यक्त संस्कार, उत्सव, रीति-रिवाज, लोक मूल्य आदि भी व्यक्ति को व्यक्ति से बाँधते हैं। जब तक लोक काव्य लोक मुख में जीवित है, तब तक भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हो सकती। आज भी लोक काव्य सांस्कृतिक एकता का एक सशक्त माध्यम है। लोक कवि पुकार-पुकार कर कहता है—

> एक पेड़ मथुरा जमो, डार गयी जगन्नाथ रे।
> फूल जो फूलो द्वारका, फल लागे बद्रीनाथ रे।।

कितनी सरल उक्ति है। हर आदमी की समझ में आने वाली। बौद्धिक जटिलता या जटिल अनुभूतियों का प्रश्न है, पर कितने लोगों की। ज्यादा से ज्यादा पंद्रह-बीस प्रतिशत लोगों की। क्या साहित्य की रचना इन्हीं के लिए है? क्या सांस्कृतिक एकता में इन्हीं की भागीदारी ही सब कुछ है ? अब समय आ गया है कि साहित्य की रचना उन पचहत्तर-अस्सी प्रतिशत लोगों के लिए होनी चाहिए जो गाँवों में रहते हैं। ग्रामवासिनी भारतमाता न जाने कब से बाट जोह रही है कि उसके बेटे उसकी बात सुनें। अब ऐसी ही लोक कविता की आवश्यकता है जो देश भर के लिए हो। □

सामाजिक संघर्ष और हिंदी कविता

डॉ. प्रेमशंकर

इस भ्रांति से मुक्त हो लेना चाहिए कि रचना के लिए किसी ऐसे शांत, निश्चिंत समय की अपेक्षा होती है जहां रचनाकार स्थिरचित होकर अपनी कला-साधना में संलग्न हो सके। कई बार स्वर्णयुग की कल्पना तक कर ली गई जबकि वह इस अर्थ में एक मिथ्या धारणा बनी कि उसका आगमन सबके लिए होता है, सुख का भोक्ता विशिष्ट वर्ग—प्रायः राजाश्रय में पालित-पोषित हुआ। ऐसा भी नहीं कि समृद्ध समय में समाज में रचना की ऊंचाइयां नहीं होतीं। होती है, पर उसका स्वरूप संघर्षशील समाज-समय से भिन्न होता है। कालिदास अथवा शेक्सपियर अपेक्षाकृत अधिक संपन्न समय का परिचय देते हैं पर रचनाओं के भीतर मनुष्य का जो अंतःसंघर्ष उपस्थित है, वह उन्हें लंबी आयु देता है, और हर युग में उसके कुछ पाठक होते हैं। दृश्य का दूसरा पक्ष वह है जो रचना के लिए अधिक चुनौती-भरा है कि जब खुली हवा में सांस ले पाना भी कठिन हो, तब रचनाकार अपने संकल्प के बल-बूते पर कैसे सर्जनरत होता है? सामंतवाद से आगे बढ़कर, साम्राज्यवादी समय में शोषण की प्रक्रिया तेज और किसी अर्थ में अधिक चतुर हो जाती है। बाहर से दिखलाई देने वाली सुविधाओं के भीतर साम्राज्यवाद का मंसूबा राज्य-विस्तार का होता है। बाजार की तलाश में दौड़ती, पूंजी का विस्तार करती साम्राज्यवादी शक्तियां विश्व भर में फैल जाना चाहती हैं, जिसके कारण युद्ध भी होते हैं। एक दौर था जब ब्रिटेन के नेता दावा करते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्यास्त कभी नहीं होता। पर उस समय भी एशिया-अफ्रीका में रचना की संभावनाएं निःशेष नहीं हो गई थीं और रचनाकारों ने अपने दायित्व का निर्वाह किया था। बीसवीं शताब्दी के मध्य में अनेक देशों में जागरण आया और भारत-चीन जैसे बड़ी जनसंख्या वाले राष्ट्र अपने पैरों पर खड़े हुए, तब यह रचनाशीलता के लिए भी नये प्रस्थान का समय था। माओत्से तुंग, की एक कविता है—

> देख रहा हूं, बदल गए हैं
> नवदृश्यों में दृश्य पुराने
> यहां-वहां कांचन पक्षीगण
> चहक रहे, गाते हैं गाने
> अबाबील शर-सी उड़ती हैं
> जलस्रोतों की कल-कल ध्वनि है
> और नभोन्मुख मार्ग दूर तक चढ़ता जाता।

औपनिवेशिक समाजों की राजनीतिक-आर्थिक परतंत्रता में, सचेत सजग कवि रचना

के लिए मनोवांछित परिवेश बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह कार्य सरल नहीं होता क्योंकि सत्ता के विरोध में खड़ा होना पडता है और रचना-कर्म जोखिम-भरा होता है। खतरों का यह जीवन एक प्रकार से रचनाशीलता से तदाकार हो जाता है, यद्यपि कई बार साम्राज्यवादी आतंक के कारण उसे पहचानना आसान नहीं होता। हिंदी के ही संदर्भ में देखें तो औपनिवेशिक समाज में कविता की स्वतंत्रता की कठिनाइयां सामने आती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण की शुरूआत हुई और अठारह सौ सत्तावन की आजादी की पहली लड़ाई के बाद सामाजिक सुधार और राजनीतिक आंदोलन साथ-साथ चलते दिखाई देते हैं। भारतीय नेतृत्व कई स्तरों पर काम करता दिखाई देता है। वह समृद्ध परंपरा वाले राष्ट्र को हीन भावना से मुक्त करने का प्रयत्न करता है तथा इतिहास-दर्शन-रचना आदि पर नयी दृष्टि डाली जाती है। इसके साथ ही उन कारणों पर विचार किया जाता है जिससे हम साम्राज्यवादी शक्तियों से पराभूत हुए। यह सामाजिक सुधार की वह प्रबल भावना है जिसका दौर राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक फैला हुआ है और जिसने भारतीय कविता पर अपने दबाव छोड़े हैं। जब स्वतंत्रता आंदोलन में गति आई और गांधी के व्यक्तित्व से उसे जनोन्मुखता मिली, तब इसमें अन्य तत्व भी प्रविष्ट हुए। भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद से लेकर सुभाषचंद्र बोस तक का यह विश्वास कि आजादी के लिए हिंसा का उपयोग किया जा सकता है। दूसरी दिशा समाजवाद की है, जिसे मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों ने भारत में सक्रिय किया और 1917 की सोवियत अक्तूबर क्रांति के बाद जिसमें विशेष गति आई। इस प्रकार भारत में जब साम्राज्यवाद हर प्रकार के शोषण में लगा था, सामाजिक चेतना, भीतर-भीतर ही सही, पर कई स्तरों पर क्रियाशील थी जिसे रचनाओं में देखा जा सकता है।

औपनिवेशिक समाज में जिन प्रतिभाओं ने कविता को संभव बनाया, उनके संकल्प और साहस को सराहना होगा। समय-समाज के सही साक्षात्कार के बिना रचना में प्रामाणिकता नहीं आती, इसे आजादी की पहली लड़ाई के समय की पीढ़ी जानती थी। यदि हम आधुनिक हिंदी साहित्य के आरंभ के लिए इसी ऐतिहासिक क्षण को प्रस्थान के रूप में स्वीकार कर लें तो रचना का यह प्रथम चरण अठारह सौ सत्तावन से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक फैला हुआ है। बाहर से देखने पर ब्रिटिश साम्राज्य भारत में कुछ प्रगति लाने की कोशिश करता दिखाई देता है, पर इसमें उसके निहित स्वार्थ थे। भारत के सही विकास में उनकी रूचि नहीं और वे प्रशासनिक दृष्टि से यातायात आदि की कुछ सुविधाएं जुटाना चाहते थे: जिसमें पढ़े-लिखे बाबुओं की फौज खड़ी करना भी शामिल है। मार्क्स की टिप्पणी सही है कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के आगमन से सामंती व्यवस्था के टूटने की प्रक्रिया आरंभ हुई और अनजाने ही भारत ने नये युग में प्रवेश किया, जिसे मार्क्स अभिनव सामाजिक क्रांति के सूत्रपात के रूप में देखता है। भारत में उन्नीसवीं शती में सामाजिक सुधार आंदोलनों की प्रक्रिया तेज हुई, जिनमें प्रमुख है—ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि। भारत ने मध्यकाल से आधुनिक समय में प्रवेश का प्रयत्न किया, पर साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ तथा यथास्थितिवादी शक्तियों ने इस

परिवर्तन में बाधा उपस्थित की। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम चरण में, जिसे भारतेंदु युग कहकर संबोधित किया जाता है, एक द्वंद्व की-सी स्थिति दिखाई देती है। एक दूसरी समस्या यह भी कि धर्म-जाति-भाषा आदि में बँटे समाज में राजनीतिक संगठन का कार्य सरल नहीं होता और इसके लिए भारत को महात्मा गांधी की प्रतीक्षा करनी पड़ी, जिन्होंने देश का मनोबल ऊपर उठाने का प्रयत्न किया और स्वतंत्रता आंदोलन को व्यापक जनाधार दिया।

आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम चरण में कविता की पहली लड़ाई उस सामंती परिवेश से थी, जहां रचना राजाश्रय में सिमट गई थी और उसका जीवन-संपर्क कमजोर हो गया था। इस दृष्टि से आधुनिक कविता की पहली सीढ़ी का महत्व ऐतिहासिक है क्योंकि उनका संघर्ष कई धरातलों पर था। एक ओर उन्हें उस शरीरवाद और चाटुकारिता से मुक्त होना था जो विकेंद्रित सामंतवाद की प्रवृत्ति है, दूसरी ओर साम्राज्यवादी अंकुश के भीतर, रचना को नयी सामाजिक चेतना का वाहक बनाना था। एक विचित्र प्रकार के आत्मसंघर्ष से गुजरती हुई यह कविता जिस राष्ट्रीय चेतना का संकेत करती है, उसकी पहचान इसीलिए किंचित कठिन है, क्योंकि यहां द्वैत भी है, और कविता का स्वर उतना मुखर भी नहीं, जितना कि अगले दौर में हुआ। भारतेंदु युग के रचनाकारों ने अपनी सामाजिक चेतना व्यक्त करने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया और स्वयं भारतेंदु ने 'अंधेर नगरी' जैसी व्यंग्य रचना लिखी जिसकी प्रासंगिकता हर उस समय-समाज में होगी, जहां न्याय नहीं मिलता। अंधेर नगरी, चौपट्ट राजा/टके सेर भाजी, टके सेर खाजा—पंक्तियां साम्राज्यवादी सत्ता पर तीखा व्यंग्य हैं, पर उसकी ध्वनि इससे आगे भी जाती है। हम स्वीकारते हैं कि राष्ट्रीय भावना का स्वर आगे चलकर अधिक प्रखर हुआ, पर उसकी भूमिका प्रथम चरण में निर्मित होती है। राधाचरण गोस्वामी की 'हमारो उत्तम भारत देस' अथवा प्रेमधन की 'धन्य भूमि भारत सब रतननि की उपजावनि' आदि में राष्ट्रीय भावना के संकेत हैं। भारतेंदु पीड़ा के साथ कहते हैं कि पै धन बिदेस चलि जात, यह अति ख्वारी। भारतेंदु युग के लेखक अपनी बात कहने के लिए इतिहास-पुराण का सहारा लेते हैं जिससे वे नयी राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करना चाहते हैं। भारतेंदु युग के काव्य में जो भक्तिभावना की वापसी हुई, वह भी एक प्रकार से रीतिकालीन देहवाद से मुक्ति का प्रयत्न है और भारतेंदु ने इस माध्यम से जातीय सौमनस्य पर बल दिया: मसजिद मंदिर गिरजों में देखा मतवालों का जो दौर/अपने अपने रंग में रंगा दिखाया सबका तौर। इस प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम चरण में कवियों ने साम्राज्यवादी परिवेश के भीतर कविता को संभव बनाया और वह सही प्रस्थान दिया कि आगे की अधिक प्रखर चेतना अभिव्यक्ति पा सके।

बीसवीं शताब्दी के संधिस्थल पर राजनीतिक सक्रियता बढ़ती है। 1914 में गांधी अफ्रीका से भारत लौटते हैं और स्वतंत्रता संग्राम को नयी दिशा मिलती है। प्रायः तिलक के ऐतिहासिक वक्तव्य का उल्लेख किया जाता है: 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर ही रहेंगे।' इससे प्रखर राष्ट्रीयता का बोध होता है। गांधी सत्य-अहिंसा

पर बल देते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीयता चेतना की दो प्रमुख दिशाएं हैं। नवजागरण की जो प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी में आरंभ हुई थी, वह बीसवीं शताब्दी में अधिक प्रखर हुई और कविता का स्वर अधिक मुखर हुआ। देश प्रेम की भावना इस कविता में प्रमुखता पाती है और इसे कई प्रकार से व्यक्त किया गया। इस समय के प्रमुख कवि मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' राम-कृष्ण कथा को माध्यम बनाकर इन नायकों को नया व्यक्तित्व देते हैं। 'प्रिय-प्रवास' की राधा का चित्र है: सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे/राधा जैसी सदय-हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता। मैथिलीशरण गुप्त को राष्ट्रकवि कहकर संबोधित किया गया और उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया। वे राष्ट्रीय भावना के सबसे मुखर कवियों में हैं और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में विश्वास रखते हैं: मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती/भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती। इन पंक्तियों से 'भारत-भारती' का आरंभ होता है और कवि अपनी सामाजिक व्यथा व्यक्त करते हुए कहता है: स्वच्छंदता से कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो/जग जाएं तेरी नोंक से सोए हुए हो भाव जो। यहां कवि की मुख्य चिंता भारतीय समाज की अवनत स्थिति है और काव्य के समापन अंश भविष्यत् खंड तथा विनय में कामना की गई है कि भारत प्राचीन गौरव प्राप्त कर सकेगा। ध्यान दें कि मैथिलीशरण गुप्त की कविता का पूरा ताना-बांना राष्ट्रीय भावना, समाज-सुधार, गांधीवादी नैतिकता से निर्मित है। इतिहास-पुराण के चरित्रों को लेते हुए भी वे इसी राष्ट्रीय चेतना से परिचालित हैं और 'पंचवटी' की सीता स्वावलंबन की मूर्ति बनती है: सवावलंब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष। मैथिलीशरण गुप्त ने बीसवीं शताब्दी के आरंभ की कविता का सामाजिक प्रतिनिधित्व किया, इसमें संदेह नहीं, पर इस समय के अन्य कवि भी हैं जिनमें साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने की कामना मुखर हुई है। इनमें कुछ प्रमुख नाम हैं—रामनरेश त्रिपाठी, बालमुकुंद गुप्त, गोपालशरण सिंह, गिरिधर शर्मा कविरत्न, गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा शंकर आदि। इस समय का नेतृत्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से किया और हिंदी खड़ी बोली कविता को वह प्रशस्त पीठिका दी जिस पर आगे की रचनाशीलता संभव हो सके। साम्राज्यवाद से टकराता यह अधिक मुखर स्वर है।

स्वतंत्रता संघर्ष और मुक्ति आंदोलन की गति ज्यों-ज्यों तेज होती है, साम्राज्यवादी दमन और भी निर्मम होता जाता है, जिसे लेनिन ने खंदकों की आखिरी लड़ाई कहा है। 1920 से गांधी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व करते हैं और इसे गांधी युग का आरंभ कहा जाता है। सत्य-अहिंसा पर बल देते हुए उन्होंने अपना असहयोग आंदोलन इसलिए वापस ले लिया क्योंकि वह उग्र हो गया था। गांधी को आदर देते हुए भी, ऐसे राजनीतिज्ञ हैं जिन्होंने उनकी नरम विचारधारा से अपनी असहमति व्यक्त की और अधिक उग्र राष्ट्रीयता की मांग की। किसान-मजदूरों की साझेदारी बढ़ी और समाजवाद की बात की गई, जिसका समर्थन जवाहरलाल नेहरू ने भी किया। 1925 के अंत में भारतीय साम्यवादी दल का सम्मेलन हुआ और समाजवादी दल ने पहले कांग्रेस में ही रहकर काम

किया, फिर 1934 में आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में समाजवादियों का पहला सम्मेलन हुआ। इस प्रकार स्वतंत्रता आंदोलन में वामपंथी विचारधारा सक्रिय होती है। 1920 से आजादी मिलने तक हिंदी कविता का वृत्त पहले स्वच्छंतावाद और फिर प्रगतिवाद से गुजरता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब भारतीय समाज में स्वतंत्रता की लड़ाई तेज हो रही थी और उसमें सामान्यजन की हिस्सेदारी बढ़ रही थी, तब हिंदी में रूमानी अथवा स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का आगमन कैसे हुआ और उसका औचित्य क्या है? शिक्षा के प्रचार-प्रसार के मध्यवर्ग का प्रभावी होना और प्राक्पूंजीवाद के रूप में व्यक्ति की महत्ता की स्वीकृति कुछ ऐसे कारक हैं जो हिंदी स्वच्छंदतावादी आंदोलन की पीठिका में मौजूद हैं। पर इसी के साथ भारतीय नवजागरण के दबाव भी हैं, जिसकी शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी में हुई और जो बीसवीं शताब्दी में भी सक्रिय रहा। प्रसाद, निराला, पंत ने निजता का उपयोग करते हुए, वैयक्तिक अनुभूतियों के प्रकाशन की छूट ली, जहां प्रेम भावना को प्रमुखता मिली। पर हिंदी स्वछंदतावादी काव्य छायावाद का एक सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष भी है जिसकी अनदेखी नहीं करनी चाहिए। प्रसाद अपने नाटकों में भारतीय इतिहास पर नयी दृष्टि डालते हैं और कविता-कहानी में भी पुरागाथा का उपयोग करते हैं। स्कंदगुप्त तथा चंद्रगुप्त नाटकों में राष्ट्रीय भावना, प्रकारांतर से ही सही, पर पूरी सजगता में मौजूद है। यहां 'हिमालय के आंगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार' जैसा गीत है जिसकी समापन पंक्तियां हैं जिएं तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष/निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष। 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य और दाण्डयायन भारतीय बौद्धिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं और यहां 'अरूण यह मधुमय देश हमारा' तथा 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती/स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती' जैसे राष्ट्रीय भावना के गीत हैं। साम्राज्यवादी अंकुश में रचना को संभव बनाने के लिए स्वच्छंदतावादी कवियों ने अपने वैयक्तिक संवेदनों का उपयोग तो किया, पर उसे वृहत्तर मानवीय संदर्भ से भी संबद्ध किया। उनका काव्य अहं की परिक्रमा करके नहीं रह जाता, जो दुर्घटना आगे चलकर प्रयोगवादियों के साथ हुई। पंत आरंभ में प्रकृति को अपना मुख्य काव्य-विषय बनाते हैं और फिर 'परिवर्तन' जैसी अनेक आयामी कविता रचते हैं, जिसे 'पूर्ण कविता' कहा गया। निराला आरंभ से ही अधिक विस्तृत भूमि पर रचनारत हैं और अपने प्रथम कविता संकलन 'परिमल' में ही वैविध्य का परिचय देते हैं। उनका संवेदन-संसार स्वच्छंदतावादियों में सबसे व्यापक है और यमुना जिसे प्रायः कृष्णकाव्य की रसिक रेखाओं से जोड़कर देखा जाता है, निराला में एक नयी अर्थ-ध्वनि का संकेत करती है, जिसमें समय-संदर्भ उपस्थित है: कहां छलकते अब वैसे ही ब्रज-नागरियों के गागर?/कहां भीगते अब वैसे ही बाहु, उरोज, अधर, अम्बर।

सामाजिक दबावों में रचना का रूपांतरण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और जो रचनाकार इस वास्तविकता को नहीं स्वीकारता, वह विश्वसनीय नहीं बन पाता। भारत में आज़ादी की लड़ाई तेज हुई है और नई क्रांतिकारी शक्तियों का उदय हुआ, जैसे किसान-मजदूर।

साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की स्थापना का प्रयत्न भी हुआ और 1934 के केंद्रीय विधान सभा चुनाव में कांग्रेस को बहुमत मिला। 1936 के लखनऊ अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने समाजवादी लक्ष्य की घोषणा करते हुए 'संयुक्त जनप्रिय मोर्चे' की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रकार साम्राज्यवादी शक्ति से टकराते हुए भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ने एक नये चरण में प्रवेश किया, जहां कल्पना की गई कि नया भारत कैसा होगा और इस सिलसिले में समाजवाद को लक्ष्य रूप स्वीकारा गया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिसमें प्रेमचंद का ऐतिहासिक भाषण हुआ जिसमें उन्होंने साहित्य के सामाजिक उद्देश्य पर बल दिया। स्वतंत्रता आंदोलन की तरह प्रगतिशील लेखक संघ के आरंभ में मध्यवर्ग प्रभावी था, संभवतः जिसे लेकर निराला ने व्यंग्य भी किए। पर बदलते सामाजिक परिदृश्य, विशेषतया स्वतंत्रता आंदोलन में सामान्यजन की बढ़ती हुई हिस्सेदारी ने रचना को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य का नया रूपांतरण हुआ, गद्य में जिसकी शुरुआत प्रेमचंद की परवर्ती रचनाओं के सामाजिक यथार्थ से हो चुकी थी। और यह गांधीवाद से समाजवाद तक की यात्रा का विकासक्रम है।

चौथे दशक में भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष प्रखर होता है और पांचवे दशक में निर्णायक दौर में पहुंचकर अपना राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करने में उसे सफलता मिलती है। साम्राज्यवाद से सीधे टकराते हुए निराला उन सामाजिक कारणों की पड़ताल करते हैं जिनसे शोषण, असमानता, अन्याय, अत्याचार को बढ़ावा मिलता है। निराला ने अपनी गद्य रचनाओं में सामाजिक यथार्थ के विवरण प्रस्तुत किए और अनामिका, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला और नये पत्ते में इसे संवेदन-स्तर पर व्यक्त किया, यहां तक कि अपने आक्रोश के लिए व्यंग्य तक का सहारा लिया। कुकुरमुत्ता का तीखा व्यंग्य है: अबे, सुन बे, गुलाब/भूल मत पायी जो खुशबू, रंगोआब/खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट/डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट। आजादी के ठीक पहले 1946 में प्रकाशित निराला का कविता संकलन 'नये पत्ते' किसान-जीवन का दस्तावेज कहा जा सकता है जहां संवेदनशील कवि ने किसानों की दुर्दशा का वर्णन किया है। इसका पूरा ताना-बाना ही किसान की जिंदगी से निर्मित है: खरीफ की निराई, झुकी रीढ़, पीला चेहरा, जेठ की दुपहर, अरहर के पेड़, खेतिहर कुत्ता, जमींदार-साहूकार, बनिया, खलिहान, खेत-खलिहान, झुलसी जनता, कुम्हार ढोर आदि। और पात्र भी यहीं से पाए गए हैं: मकुआ चमार, चच्छू नाई, बदलू अहिर, मन्नी कुम्हार, मंहगू, झींगुर आदि— प्रेमचंद के कथा-साहित्य की याद दिलाते हुए। सुमित्रानंदन पंत के परवर्ती काव्य युगांत, युगवाणी, ग्राम्या में भी ग्रामजीवन पर दृष्टि डाली गई, पर यथार्थ अपनी पूरी प्रखरता में नहीं आ पाया। इस प्रकार साम्राज्यवाद से टकराते हुए, हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य इस बाध्यता का अनुभव करता है कि वह सामाजिक यथार्थ के नये वृत्त में प्रवेश करे।

औपनिवेशिक समाज में कविता की स्वतंत्रता एक वैचारिक प्रश्न तो है ही, उसका गहरा संबंध संवेदनशीलता से भी है, जिसके बिना कविता में न तो ऊर्जा आती है, न विश्वसनीयता। हिंदी प्रगतिशील चेतना प्रगतिवादी काव्य के प्रस्थान के रूप में यदि हम

निराला के परवर्ती काव्य को स्वीकार करें, तो कम से कम संवेदन वाले पक्ष का सही रूप हमें मिल जाता है। फिर आता है विचाराधारा का प्रश्न और इसमें संदेह नहीं कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने साम्राज्यवाद से टकराने में हिंदी रचनाशीलता को काफी प्रेरणा दी। स्वछदतावादी प्रवृतियों से जुड़े हुए कवि शिवमंगलसिंह 'सुमन' में रूमानी भावनाओं के साथ प्रगतिवादी स्वर भी है। आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा ले रहे कवियों की पंक्ति साम्राज्यवाद से सीधे ही टकराना चाहती है, जिसकी शुरुआत मैथिलीशरण गुप्त ने की थी और जिसे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, सियारामशरण गुप्त, दिनकर आदि ने नया विस्तार दिया। ऐसा लगता है जैसे हिंदी स्वच्छंदतावाद के बाद की पीढ़ी ने राष्ट्रीय चेतना को संवेदन के गहरे स्तर पर व्यक्त करने का प्रयत्न किया। माखनलाल चतुर्वेदी की बहु उद्धृत कविता 'पुष्प की अभिलाषा' को सर्वोत्तम उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है, जहां कवि व्यक्ति-राग से राजाश्रय तक की इच्छाओं का निषेध करता हुआ, बलिदान भाव को सर्वोपरि महत्व देता है: मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक/मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाएं वीर अनेक। दिनकर हिमालय के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति करते हैं: मेरे नगपति, मेरे विशाल/साकार, दिव्य गौरव विराट्/पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल/मेरी जननी के हिम-किरीट/मेरे भारत के दिव्य भाल।

साम्राज्यवाद से जूझती हुए हिंदी कविता जब प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थ युग में प्रवेश करती है तो उसे निराला के विद्रोही स्वर से प्रेरणा मिलती है। पर विचारधारा में मार्क्सवाद-लेनिनवाद उसे दार्शनिक-वैचारिक आधार देता है और कविता का स्वर अधिक जुझारू भी बनता है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध आदि की पीढ़ी प्रतिनिधित्व करती है और विचारणीय यह कि आज़ादी के बाद भी इसकी ज़रूरत इस रूप में महसूस की गई कि समतावादी समाज बनना चाहिए। इन कवियों की लंबी सूची है केदारनाथ सिंह और धूमिल से लेकर राजेश जोशी, अरुण कमल आदि तक। इसे हम मुक्तिबोध की पीढ़ी का नया विन्यास कह सकते हैं जहां कविता का समाजशास्त्र-सौंदर्य शास्त्र एक-साथ देखे जा सकते है और जहां राजनीति भी कविता को उद्वेलित करती है। नये साहित्य के संदर्भ में मुक्तिबोध ने रचनाकार के मानवतावाद (अथवा मानववाद) पर बल देते हुए कहा है कि 'कला की स्वतंत्रता जीवन सापेक्ष्य है' और उनकी कविताएं इसे प्रमाणित करती हैं। 'ओ काव्यात्मन फणिधरे' कविता की पंक्तियां हैं. 'किंतु एकत्र करो/प्रज्वलित स्तरों को/वे आते ही होंगे लोग/जिन्हें तुम दोगे/देना ही होगा पूरा हिसाब/अपना सबका मन का, जग का'। वास्तविकता यह है कि हिंदी का प्रगतिवादी काव्य अपने ढंग से, साम्राज्यवाद से टकराया, इस मुद्दे पर कि वह पूंजीवादी शोषण की निर्मम प्रक्रिया है और इससे मुक्ति पानी ही होगी। कवियों ने आस-पास के सामान्यजन पर संवेदनभरी दृष्टि डाली और उनमें जो गहरे स्तर पर अभिव्यक्ति दे सके, उनकी आवाज निराला या नेहरु की तरह प्रमाणिक बनी। अपने उपन्यासों में नागार्जुन ने सामान्यजन को विषय बनाया और अपनी बात कह सकने के लिए कविता में व्यंग्य का भी सहारा लिया।

1949 की उनकी कविता है 'प्रेत का बयान,' जिसकी पंक्तियां हैं: किंतु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका/ऐसा किसी व्याधि का पता नहीं हमको।

औपनिवेशिक समाज में जिन कवियों ने कविता को संभव बनाया, वे इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने रचना के सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व को स्वीकार किया। इस रूप में उनकी भूमिका ऐतिहासिक है यद्यपि उनकी प्रतिभा की क्षमताएं अलग-अलग। यह भी कि कई बार वे वक्तव्यों को कविता-स्तर तक नहीं पहुंचा सके और रचना में पूरा संयोजन स्थापित कर सकने में उन्हें कठिनाई हुई। भारतेंदु से चलकर निराला तक, प्रगतिवादियों की पीढ़ी नागार्जुन से लेकर केदारनाथ सिंह और फिर समकालीन कविता तक की सचेत आवाज इस अर्थ में साम्राज्यवाद से टकराती है कि पूंजीवाद अपने चरमोत्कर्ष में साम्राज्यवादी शोषण बनता है और आज भी अर्धविकसित समाजों, विशेषतया एशिया-अफ्रीका-लैटिन अमरीका के देश मुक्ति के लिए छटपटा रहे हैं। ऐसे में कविता का सामाजिक दायित्व गहरा है। सुब्रह्मण्य भारती की भारतदेवी को समर्पित प्रभातगान की पंक्तियां हैं: क्या मां अविचलित रह सकती है/जब उसकी संतान अनुनय-विनय कर रही हो। □

आधुनिक भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना

डॉ. वेदज्ञ आर्य

साहित्य-सृजन के मूल में मनुष्य की मननशीलता परिनिष्ठित रहती है। चिरंतन काल से साहित्य को जो नए-नए विषय उपलब्ध होते आ रहे हैं और उनकी अभिव्यंजना के लिए जो नूतन आयाम उद्घटित होते रहते हैं उनका एक मात्र कारण मनुष्य की अनवरत मननशीलता ही है। साहित्य चाहे कितना भी विविध विषयोंमुख क्यों न हो और उसके आयाम भी कितने ही विस्तृत क्यों न हों, परंतु उसका समय-सापेक्ष होना और परिवेश के अनुरूप होना उसके शाश्वत बने रहने की पहली पहचान है। यही कारण है कि साहित्य की दीर्घ यात्रा में एक ऐसा युग या कालखण्ड उपस्थित हुआ जिसमें राष्ट्रीय चेतना का स्वर सर्वाधिक रूप से अनुगुंजित होता रहा है। यह युग 1857 में गदर की क्रांति से आरंभ होकर 1947 में स्वतंत्रता-प्राप्ति तक रहा है। वास्तव में गदर को गदर न कहकर उसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम कहना उचित होगा। फिर भी इन नब्बे वर्षों की अवधि में भारतीय भाषाओं के अंतर्गत जो साहित्य निर्मित होता रहा उसका अधिकांश भाग राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत रहा है। शब्द-ब्रह्म की उपासना करने वाले साधकों के लिए राष्ट्र एवं राष्ट्रीय चेतना का अर्थ अविदित नहीं है। विश्व साहित्य के इतिहास में जिस ऋग्वेद को प्राचीनतम साहित्यिक ग्रंथ होने का श्रेय प्राप्त हुआ है उसका वाक्य है—*अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्* शब्द और अर्थ का संधान एवं संदर्शन करने वाली ऋषि की आत्मा पुकार कर कहती है—"मैं राष्ट्र की चेतना-शक्ति हूं और राष्ट्रवासियों को भौतिक संपदाएँ प्रदान करती हूं और मैं ही यज्ञब्रह्म का साक्षात्कार करने वाली वागाम्भृणी नामक आदि शक्ति हूं अर्थात राष्ट्रीय चेतना को स्पंदित करने वाली वेदवाणी हूं।"

अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त को कोई भी राष्ट्र-प्रेमी भुला नहीं सकता, जिसमें यह कहा गया है 'माता भूमि· पुत्रोऽहं पृथिव्या·' भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूं।' यह धरती सच्चे अर्थों में पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-वनस्पति और मानव सब की पालनकर्त्री मातृ शक्ति है। यह समस्त भोग्य पदार्थों से भरा हुआ एक विस्तृत अक्षय पात्र है। मंत्रद्रष्टा ऋषि के कथनानुसार पृथिवी-माता का हृदय अमृत और सत्य से भरा हुआ है। स्वतंत्रता-आंदोलन के समय भारतीय साहित्य में जो राष्ट्रीय चेतना उभर कर आई है उसके बीज वैदिक काल में ही बोये गये थे। वह तो पूर्ण वट वृक्ष बन कर और अपनी असंख्य जड़ों एवं जटाओं को धरती में धसा कर प्रेरणा की शीतल छाया प्रदान करती रही। इसमें संदेह नहीं कि उंनीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जिस राष्ट्रीय चेतना की चर्चा की जाती है वह अवश्य ही आधुनिक युग की देन है। उसकी अवधारणा राष्ट्रीय पुनर्जागरण और स्वतंत्रता प्राप्ति के अर्थ में परिभाषित है। यह भी सच है कि यूरोपीय पुनर्जागरण काल से ही पराधीन राष्ट्रों

में स्वतंत्रता, समता और बंधुता के लिए राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात हुआ है। यही कारण है कि भारतवर्ष में भी कालांतर राष्ट्रीय विचारधारा विकसित हुई है। परिणामतः पूर्व में असमिया साहित्य से लेकर पश्चिम के राजस्थानी और गुजराती साहित्य में तथा दक्षिण भारत के तमिल एवं मलयालम साहित्य से लेकर उत्तर के सिंधी तथा कश्मीरी साहित्य में स्वाधीनता का जयघोष एक स्वर से सुनाई पड़ता था। सभी भारतीय भाषाओं के कवि, नाटककार, कहानीकार, उपंयासकार और लेखकों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं में विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध तीव्र आक्रोश व्यक्त किया। कुछ भाषाओं के विवरण दिए जा रहे हैं।

असमिया

यदि सर्वप्रथम असमिया साहित्य का विवेचन किया जाये तो उसके कवियों में कमलाकांत भट्टाचार्य का प्रथम काव्यसग्रह सन् 1890 में 'चिंतानल' के नाम से प्रकाशित हुआ। उन्होंने अपनी अन्यतम कविता में असम को एक राष्ट्र के रूप से ही मानकर फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी, जापान आदि से पिछड़ा हुआ बताया, परंतु इसी कविता में यह भी बतलाया है कि असम आर्य संस्कृति के पुरातन संदर्भों से बंधा हुआ है और इसीलिए वह भारतवर्ष का ही अभिन्न अग है। सन् 1919 में उनका दूसरा काव्य-संग्रह *चिंतातरंग* नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने भारत को प्राचीन गौरव से विच्युत बतला कर अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय चेतना को स्पंदित करने का सफल प्रयास किया। वे स्वदेश की गौरवहीनता के कारण इतने अधिक दुखी रहते थे कि एक पल भर के लिए भी उसके दुखद प्रसगो को भुला नहीं पाते थे। इसके ठीक विपरीत *लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ* अपनी कविताओं में स्वदेश के गौरवशाली अतीत का निरूपण करते हुए असमियों को अपने महापुरुषों एवं महारथियों के आचरण का अनुसरण करने की प्रेरणा देते थे। इस क्रांति युग में तथा स्वातंत्र्य युग में जिन रचनाकारों ने असम एवं समग्र भारत के संदर्भ में देशभक्ति की भावना से पूर्ण गीत लिखे हैं उनमें राधानाथ फुकन, नवीनचंद्र बर्दोलोई, तरुणराम फुकन, मित्रदेव महंत, उमेश चौधरी, अम्बिक गिरि राय चौधरी, पद्मधर चालिहा, नलिनीबाला देवी, बिनंदचंद्र बरुआ, ज्योति प्रसाद अगरवाला, सैयद अब्दुल मलिक, देवकांत बरुआ, हेम बरुआ, नवकांत बरुआ, हीरेन भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भाषावार राज्यों की स्थापना होने पर भी कुछ काल तक सभी राज्य राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना के सूत्र में ही आबद्ध रहे। इसका एक जीवंत उदाहरण सन् 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण के समय मिलता है। इस आक्रमण में भारत की स्वतंत्रता डगमगाने लग गई थी, परंतु राष्ट्रचेता कवि अम्बिका गिरि राय चौधरी ने एक कविता लिखकर असमवासियों को शपथ ग्रहण करने का आह्वान किया है। यह कविता है—'भारतर पूब प्रांत रक्षी, मइ आसो, मइ आसो'। इसका भाव इस प्रकार है—

> पूर्व में भारत के प्रहरी
> हम हैं यहाँ, हम हैं

हम मृत्युंजय वीरों की संतान हैं
हम हैं यहाँ, हम हैं
भारत की पूर्वी पहाड़ियों की शोभा
हम हैं यहाँ, हम हैं
हम यहाँ हैं, मातृभूमि की रक्षा में सन्नद्ध वीर
हम यहाँ हैं भारत माता के मुकुट की मणियाँ।

ओड़िया

भारतीय साहित्य को राष्ट्रीय भावना से समृद्ध एवं जीवंत बनाने में उड़िया साहित्यकारों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। श्री राधानाथ राय उड़िया के प्रथम कवि हैं, जिनकी रचनाओं में स्वदेश प्रेम गूँज उठा है। भारत की पराधीनता से उनका मन अत्यधिक व्यथित हो उठा। उन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा देशवासियों को सर्वप्रथम उड़ीसा की प्राकृतिक रमणीयता से अवगत कराया। 'चंद्रभागा', 'नंदिकेश्वरी', 'महायात्रा' आदि। उनकी कविताओं में उड़ीसा की नैसर्गिक सुषमा का सजीव एवं विस्तृत वर्णन हुआ है। तदनंतर उनकी 'चिलिका' तथा 'दरबार' नामक कविताओं में उड़ीसा और भारत की दुर्दशा की ओर संकेत किया गया है। उन्होंने एकता के लिए आह्वान करते हुए इन शब्दों में भारत जननी का गुणगान किया है—

यह भारत भूमि हमारी जननी
नहीं पुण्य भूमि इससे बढ़ कर।

राधानाथ राय के समसामयिक कवि मधुसूदन राव और गंगाधर मेहर ने भी मातृभूमि एवं मातृभाषा के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त की है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में गोविंद रथ की रचनाओं से राष्ट्रप्रेम की उद्भावना में अधिक तीव्रता और उग्रता समा गई है। देशभक्त कवि गोपबंधु दास ने अपना जीवन देश के लिए समर्पित किया और स्वाधीनता के आंदोलन में सम्मिलित होकर कारावास का दण्ड भोगा। उनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना साकार हो उठी है। उड़ीसा के बस्तर क्षेत्र में जन्मी कवयित्री *कुंतला कुमारी* का जीवन साहित्य एवं चिकित्सा-क्षेत्र में एक अनुकरणीय आदर्श है। डाक्टरी सीखते समय ही उन्होंने राष्ट्रीय चेतना से भरपूर कविताएँ लिखीं और प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाकर डाक्टरी परीक्षा उत्तीर्ण की तथा स्वर्ण पदक भी प्राप्त किया। वे दिल्ली में रहते हुए हिंदी में भी लिखने लग गईं और हिंदी साहित्य पर चर्चा भी करने लगीं। इतना ही नहीं, वे दिल्ली प्रादेशिक हिंदी प्रचारिणी सभा की अध्यक्षा भी बन गईं। चिकित्सा के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं का संपादन, नारी-संगठन, साहित्य-समालोचन आदि क्षेत्रों में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया। उड़िया में उनके अनेक काव्य संग्रहों के अतिरिक्त हिंदी में भी 'वरमाला' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है।

इसी क्रम में श्री लक्ष्मीकांत, श्री पद्मचरण, कृष्णचंद्र त्रिपाठी, कुंजबिहारी दाश, श्री वांछानिधि महांति, वीर किशोर दाश, गोदावरीश मिश्र, नित्यानंद महापात्र, गोदावरीश महापात्र, सच्चिदानंद राउतराय आदि कवि परिगणनीय हैं। इन कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय संवेदना का स्वर मुखरित हो उठा।

कन्नड़

कन्नड़ साहित्य में राष्ट्रप्रेम के बीज आरंभ से ही पल्लवित होते हुए दिखाई पड़ते हैं। कन्नड़ भाषी जनता का यह गहरा विश्वास है कि उनका प्रदेश भारत का ही अविभाज्य अंग है। यहाँ के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का उन्नयन कित्तूर की रानी चेन्नमा की विजय यात्रा से हुआ है। सन् 1824 में चेन्नमा ने ब्रिटिश साम्राज्य से समर्थित धारवाड़ के थ्याकरे को परास्त किया। यह पराजय ब्रिटिश साम्राज्य की भी थी, क्योंकि इस युद्ध में ब्रिटिश अधिकारी भी बंदी बना लिए गये थे। सन् 1915 में आलूर वेंकट राव, देशपांडे, श्री कण्ठ्या आदि साहित्य प्रेमियों ने कन्नड़ साहित्य परिषद की स्थापना की। इसके माध्यम से कर्नाटक चेतना और राष्ट्रीय चेतना का विकास साथ-साथ होता रहा। इन साहित्यकारों की मान्यता थी कि कन्नड़ भाषा के उद्धार से भारत माता का भी उद्धार अपने आप होता जायेगा। श्री कण्ठ्या को कन्नड़ साहित्य का शुक्रतारा माना जाता है। यद्यपि वे अंग्रेजी के अध्यापक थे, परंतु अनुवाद के माध्यम से कन्नड़ साहित्य को नया आयाम एवं नई चेतना प्रदान करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। कन्नड़ साहित्य में नवोदय लाने वाले अन्य साहित्यकारों में आलोचक कुर्तकोटि, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता बेन्द्रे, आलोचक श्री कृष्णमेन्द्र, एक अन्य ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कवि कुवेंपु, श्री अडिगजि, गोविंद पै, पंगे मंगेश्वर राव, श्रीनिवास, सालिरामचन्द्र राव, आनंदकंद, कन्नड़ के तीसरे ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता श्री गोकाक, पुतिन, मधुरचेंन, नरसिंह स्वामी, दिनकर देसाई आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से देशभक्ति, मानवप्रेम और अतीत-गौरव का गान करके व्यष्टि एवं समष्टिगत जीवन में स्वाभिमान की भावना जगाई। कुवेंपु का एक-एक गीत राष्ट्रीय चेतना को स्पंदित करता है। उदाहरण के लिए दो गीतों की कुछ पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

> सौ देवों को दूर हटाओ
> भारत मां ही देवी
> आओ करे पूजा उसकी।

इसी प्रकार—

> भारत भूमि मेरी माँ है
> मुझे पालने वाली हिंडोला है
> अर्पित करूंगा सारा जीवन
> माँ का मंदिर बनवाने।

कन्नड़ साहित्य में सामाजिक यथार्थता को लेकर नव्य-काव्य के नाम से भी एक दूसरा आंदोलन प्रचलित है जिसके प्रबल समर्थक विख्यात कवि शिव रुद्रप्पा माने जाते हैं।

गुजराती

गुजराती साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास श्री दलपतराम तथा श्री नर्मद की कविताओं के माध्यम से हुआ है। यद्यपि ये दोनों कवि अंग्रेजी राज्य के प्रशंसक भी थे, परतु देश की पतनोन्मुखी अवस्था से अत्यंत दुखी थे। इन दोनों कवियों ने राष्ट्रीय चेतना के नैसर्गिक विकास के लिए राष्ट्रीय एकता पर अधिक बल दिया है। दोनों का दृष्टिकोण भी अत्यंत व्यापक एवं उदार था। दलपत राम अखण्ड आर्यभूमि के हित के लिए अपने अस्थिचर्ममय शरीर का उत्सर्ग करने को उद्यत है—

आर्यभूमि तणु हित अंतरमां इच्छु सदा
आर्यभूमि तणा म्हारा अस्थि अनै चर्म छे।

नर्मद तो गुजरात प्रदेश की महान् विभूतियों—स्वामी दयानंद एवं महात्मा गांधी के समान ही राष्ट्रीय एकता के लिए संपूर्ण देश की एक ही भाषा का होना आवश्यक मानते थे। इसके अभाव में दु.ख प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

नयी अमारा माह्यं देशनी एकज भाषा।

गुजराती साहित्य में आरंभिक युग दलपत-नर्मद के नाम से प्रचलित है। उसके बाद पण्डित-युग का आरंभ हुआ। इस युग में सांस्कृतिक चेतना का विकास राष्ट्रीय चेतना की अपेक्षा कुछ अधिक हुआ है। पण्डित-युग के अग्रणी कवि न्हाना लाल हैं जिनकी कविताओं में सांस्कृतिक चेतना एवं मानवता-प्रेम का स्वर प्रमुख रूप से गूंज उठा है। आधुनिक गुजराती साहित्य में राष्ट्रप्रेम के उद्गाताओं में बलवंतराय ठाकोर, बेहेरामजी, मेरवानजी मलबारी, हरिलाल अर्बद राय ध्रुव, सुंदर, श्वेरचंद मेघाणी, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता उमाशंकर जोशी आदि प्रमुख कवियों की गणना होती है। मेघाणी की कविता तो लोकमानस का स्पंदन है। उनकी कविता उत्साह, उमंग और शक्ति से परिपूर्ण होकर नदी के समान सब अवरोधों को तथा बंधनों को तोड़कर राष्ट्रीय चेतना के महासागर में समाहित हो जाती है। उमाशंकर जोशी की कविता व्यापक मानवीय धरातल पर विश्वशांति की उद्घोषणा करती है।

तमिल

तमिल साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का श्रीगणेश लोकगीतों के माध्यम से हुआ है। इन गीतों में एक ऐसे वीर सामंत का यशोगान किया गया है जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार के अधीन होने और उन्हें 'कर' देने से अस्वीकार कर दिया। इस स्वाभिमानी वीर का नाम पाण्डिय कट्टबोम्मन था। लोकगीतों में कट्टबोम्मन

के जीवन की कर न देने वाली विशिष्ट घटना को ही वर्ण्य विषय बनाया गया है। तमिल के लोकगीतों का हिंदी-पद्यानुवाद इस प्रकार है—

> आकाश जल बरसाता है।
> धरती अन्न उपजाती है।
> भूतल के इस राजा को
> कर हम क्यों दें?
> तुम बतलाओ।

इन पंक्तियों में आलोच्य काल के बहुत पहले से ही राष्ट्रीय स्वाभिमान की प्राण प्रतिष्ठा की गई है। विदेशी सरकार को आत्म-समपर्ण न करके उसका कड़ा विरोध करना ही तत्कालीन तमिल काव्यों का मूल स्वर रहा है। स्वातंत्र्य संग्राम की ज्वालाएं उत्तर से दक्षिण भारत तक प्रज्वलित होती रहीं। रामसामी रचित 'प्रताप चंद्र विलायम' नामक नाटक में एक ऐसे राष्ट्रवादी पात्र की सृष्टि की गई है जो देशप्रेम की उद्घोषणा इन शब्दों में करता है—

> जिसे अपने देश से प्रेम नहीं
> जिसे अपने देशवासियों से प्रेम नहीं है
> वह जंगली जानवर ही है
> छह इंद्रियों वाला मनुष्य कदापि नहीं।

तमिल-साहित्य-जगत में सुब्रह्मण्य भारती की अवतारणा राष्ट्रीय इतिहास की अन्यतम विशिष्ट घटना है। उनकी भारती में काव्य पुरुष की ओजस्विता और वर्चस्विता विद्यमान थी। उनका साहित्यिक जीवन अल्पकाल तक रहा। उनकी प्रथम काव्यकृति 'स्वदेश गीतंगल' के नाम से प्रकाशित हुई और अंतिम रचना 'कण्णन पाट्टु' के नाम से। कवि भारती स्वतंत्रता के अनन्योपासक थे और सभी वर्गों की स्वतंत्रता के लिए अपना जीवन-बलिदान करने के लिए सदा उद्धत रहते थे।

तमिल के राष्ट्रचेता साहित्यकारों में सफल गद्यलेखक कल्याण सुंदरम् कवि नामक्कन रामलिंगम, गीतकार विश्वनाथदास, विनायकम् पिल्लै, कवयित्री असलांबिके, भारतीदासन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु

तेलुगु साहित्य में भी राष्ट्रीय चेतना लोकगीतों एवं लोककथाओं के माध्यम से स्पंदित होती रही है। गीतों से आबद्ध कथानायक ऐसे वीर, ऊर्जस्वित और पौरुषाभिमानी होते थे जो देश तथा मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने आपको न्यौछावर करके परंपरागत आदर्श का निर्वाह करते थे। आंध्रप्रदेश की जनता आज भी वीर रस प्रधान और वीर रस के अनुरूप भावोद्रिक रागों में गाई जाने वाली कथाओं को सुनकर उत्साहित तथा उल्लसित

होती है। इन गीतिकथाओं में 'काटमराजु कथा, बोब्बिलि कथा, बालनागम्मा कथा, पापरापुडि कथा, अल्लूरि सीतारामराजु कथा आदि अत्यंत लोकप्रिय हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि राष्ट्रीय जागरण के युग में आंध्रप्रदेश महात्मा गांधी के स्वतंत्रता-आंदोलन से तमिलनाडु की अपेक्षा अधिक प्रभावित हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि गांधी जी को केंद्रित करके जितने गीत और कविताएँ लिखी गई हैं उतनी किसी भी भाषा-साहित्य में नहीं लिखी गई। इन काव्यकृतियों के नाम हैं—महात्मा कथा, अभिनव तिक्कना, आत्मकथा, श्री गांधी भारतम्, महात्मा गांधी स्वागतम्, गांधी देवुडु, श्री गांधी चरितामृतमु, परम ज्योति आदि। उनके बलिदान के बाद भी सैकड़ों की संख्या मे गीत एवं गद्यकृतियाँ लिखी गई हैं। स्वतंत्रता की प्रबल आंधी संपूर्ण आंध्रप्रदेश में बहती रही। गांधी जी के अतिरिक्त अन्य प्रमुख स्वतंत्रता-सेनानियों के नाम से भी काव्य रचे गए। जैसे—लाला लाजपत राय, गोपालकृष्ण गोखले चरित्र, दादाभाई नौराजी चरित्र, लोकमान्य तिलक, कोंडा वेंकटप्पय, नेता जी, भगत सिंह आदि। इन चारित्रिक गीतिकाव्यों में कवि सम्राट विश्वनाथ कृत 'झांसी की रानी' अत्यंत श्लाघ्य एवं उत्कृष्ट रचना है।

पंजाबी

पजाबी साहित्य में सिक्ख गुरुओं के बलिदानों की अमर कहानियाँ राष्ट्रप्रेम तथा स्वदेशाभिमान को युग-युगांतर तक जीवित रखने में सक्षम रही हैं। स्वतंत्रता संग्राम के समय संपूर्ण पंजाब राष्ट्रीय चेतना की ज्वालाओ में दग्ध होकर निखरता चला गया। जलियांवाले बाग में देशभक्तों की आत्माहूति की घटना राष्ट्रोद्बोधन की प्रेरणाशक्ति बन गई। नगरवासियों से लेकर खलिहानों में काम करने वाले जाटों तक उस युग का यह प्रसिद्ध गीत शत-शत कण्ठों का हार बन गया—

पगड़ी संभाल ओ जट्टा, पगड़ी संभाल ओए,
हिंद है मंदर तेरा, तू इसदा पुजारी ओए
झल्लेगा अजे कद तक हो खुआरी ओए
मरने दी करलै हुण तू वड्डी तियारी ओए
मरने तो जीणा भैड़ा होके बेहाल ओए।
पगड़ी संभाल ओ जट्टा ..

इस प्रकार के राष्ट्रीयोद्बोधन के गीत पंजाबी भाषा की पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होते रहे हैं। ज्ञानी हीरा सिंह, लाभ सिंह कवीशर, विधाता सिंह तीर, हरिंदर सिंह, भाई वीर सिंह, प्रोफेसर मोहन सिंह, प्रोफेसर पूर्ण सिंह, लाला धनीराम, लाल किरपा सागर आदि लेखकों एवं कवियों का राष्ट्रप्रेम संबंधी साहित्यिक योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

बांग्ला

बंगला साहित्य में राष्ट्रीय चेतना से पूर्व सामाजिक चेतना का सूत्रपात पहले हुआ। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा तथा जाति-पांति के विरूद्ध सामाजिक चेतना को जाग्रत किया। सती प्रथा में उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई और जातिवाद में आंशिक। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय द्वारा विरचित उपन्यास 'आनंदमठ' से राष्ट्रीय चेतना को पल्लवित एवं विकसित होने के लिए सुदृढ़ तथा व्यापक धरातल प्राप्त हुआ। उसमें चित्रित संन्यासियों के गुप्त संगठन से पराधीन देश की जनता का उत्साह एवं मनोबल बढ़ता ही चला गया। उसमें मातृशक्ति दुर्गा के स्तवन में लिखित 'वंदेमातरम्' का गीत मातृभूमि की आराधना का गीत बन गया। संन्यासी-दल का अभियान गीत स्वाधीनता-संग्राम का भी अभियान गीत बन गया। यह गीत आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय है तथा प्रत्येक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आयोजन का श्री गणेश इसी गीत के मधुर गायन से होता है। इस गीत को स्वरबद्ध करने वाले रवींद्र नाथ ठाकुर ने राष्ट्रीय उद्बोधन के अनेक गीतों की संरचना की।

श्री अरविंद, श्री मानवेंद्र राय, स्वामी विवेकानंद, श्री ईश्वर चंद्र गुप्त, कालिप्रसाद सिंहा, नलिनचंद्र सेन, हेमचंद्र बंद्योपाध्याय, रंगलाल बंद्योपाध्याय, द्विजेंद्र लाल राय, मुकुंददास, रजनीकांत सेन, श्री गिरीश चंद्र घोष, श्री शरत चंद्र आदि बंगला साहित्य के मूर्धय लेखक, कवि, नाटककार, उपन्यासकार और कहानीकारों ने राष्ट्रीय चेतना की परम ज्योति को सदा देदीप्यमान रखा है।

मराठी

मराठी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के जन्मदाता श्री बाल गंगाधर तिलक माने जाते हैं। 'स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' तिलक का यह स्वर्णिम वाक्य सकल महाराष्ट्र तथा संपूर्ण भारत के लिए स्वाधीनता की दिशा में महामंत्र बन गया। राष्ट्रीय मनोबल को बढ़ाने में उक्त उद्घोषणा मंत्र-शक्ति का ही कार्य करती रही, जिससे महाराष्ट्र की जनता में देश प्रेम, आत्म-विश्वास, स्वाभिमान और स्वातंत्र्य की भावना पुनर्जीवित हो उठी। स्वतंत्रता के महायज्ञ को प्रज्वलित करने वाले तिलक के साथ विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और गोपाल गणेश आगरकर का नाम भी ग्रहण किया जाता है। इन महानुभावों के द्वारा लिखित निबंध एवं आलेखों ने सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रीय चेतना को अमर ज्योति के रूप में उद्भासित कर दिया। मराठी काव्य में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भारतीय एकता की प्रतिष्ठा करने वाले अग्रणी कवि केशवसुत (कृष्णाजी केशव दामले) माने जाते हैं। इनकी 'तुतारी' अर्थात् तूर्य नामक कविता से राष्ट्रीयता का श्रीगणेश हुआ। विदेशी शासकों के दंभ पर हमले करने तथा समता एवं स्वतंत्रता का झंडा ऊंचा करने के लिए उनका शंखनाद फूट पड़ा। पराधीनता के यातनामय चित्रों को अंकित करके स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देने वाले दूसरे कवि विनायक करंदीकर हुए। नारायण

मुरलीधर गुप्ते जो अपने नाम को सदा गुप्त रखकर 'बी' के एकाक्षर नाम से ही उच्च कोटि की कविता लिखते थे। इनकी राष्ट्रीय चेतना संबंधी कविताएं संख्या में बहुत ही थोड़ी हैं, परंतु उन्हें मराठी काव्यक्षेत्र में 'भारतीय आत्मा' माखनलाल चतुर्वेदी के समान माना जाता है।

वल्लत्तोल ने महात्मा गांधी की मान्यताओं को और स्वदेशी आंदोलन की गतिविधियों को अपने काव्य का विषय बनाया। भारत माता की पराधीनता कवि-मन की पीड़ा बन गई और करूणा के स्वर में फूट पड़ी—

क्यों अपने मंजु वदन झुका करती है
माँ तू निभृत हो रोती है क्या?
दुख भरी यंत्रणाएं कई दिन
सही तू ने फिर ये आँसू क्यों?

श्री कुमारनाशान ने भी ठीक इसी प्रकार भावाभिव्यंजना करते हुए जाति पाँत एवं धर्मांधता पर कठोर प्रहार किया। स्वाधीनता को सर्वोच्च मान्यता देने वाली कुछ पंक्तियाँ केरल के जन-जन की वाणी पर गूँजती रही—

स्वातंत्र्य ही अमृत है स्वातंत्र्य ही जीवन है
परतंत्रता मानियों को मृत्यु से भी है भयानक

कविश्री उल्लूर की कविताओं में भी राष्ट्रीय उद्बोधन के प्रभावशाली चित्र अंकित हुए। इनके समान ही केशव नायर, श्री गोपाल मेनन तथा उण्णि कृण्णन नायर भी राष्ट्रीय चेतना के कवि थे। भारतीय ज्ञानपीठ के सर्वप्रथम पुरस्कार विजेता महाकवि शंकर कुरूप ने अपनी कविताओं से राष्ट्रीय चेतना का प्रसार किया। वे केवल भारत की ही नहीं, अपितु समस्त संसार की स्वतंत्रता की कामना करते हुए लिखते हैं—

काश !
स्वतंत्रता के उज्जवल प्रकाश में
निर्मल आत्मीय जीवन
सारे संसार में
विकस्वर हो पाता।

विश्वशांति तथा मानवता के संबंध में व्यापक दृष्टिकोण रखने वाले साहित्यकारों में बहुभाषाविज्ञ कृष्ण वारियर, कवयित्री सुगत कुमारी, कुंजिरामन नायर, रमेशन नायर, यूसफ अली आदि कवियों का योगदान सदा स्मरणीय बना रहेगा।

हिंदी

हिंदी साहित्य के इतिहास में राष्ट्रीय चेतना का युग भारतेंदु हरिश्चंद्र के अवतरण

काल से माना जाता है। उस युग में भारत की दशा अत्यंत दयनीय थी। जातिवाद एवं छुआछूत के कारण राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता की भावना पनप नहीं रही थी। भारतेंदु तथा उनके सहयोगी कवियों की रचनाएं राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक बन गईं। भारतेंदु युग में राष्ट्रीय जागरण के जो बीज बोए गए वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग में पल्लवित एवं विकसित हुए। इस युग के कवियों पर महात्मा गांधी के द्वारा प्रचलित स्वदेशी आंदोलन एवं राष्ट्रीय एकता का व्यापक प्रभाव पड़ा। मैथिलीशरण गुप्त, भारतीय आत्मा, गया प्रसाद शुक्ल सनेही, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि कवियों ने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण काव्य का सृजन किया। गुप्त जी की 'भारत भारती' और उसका यह पद्य स्वदेश-प्रेम का जीवंत प्रतीक है: *जो भरा नहीं भावों से, जिसमें बहता रस धार नहीं, वह हृदय नहीं पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।* भारतीय आत्मा की 'एक पुष्प की चाह' आज भी राष्ट्रीय बलिदानों की प्रेरणा देती है। आत्मगौरव एवं स्वदेशाभिमान को जगाने में 'सनेही' की ये पंक्तियाँ आज भी जनमानस को स्पंदित कर देती हैं—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।

राष्ट्रीय भावना के उन्मेष में पं. नाथूराम शर्मा, श्यामनारायण पाण्डेय, सुभद्राकुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सियाराम शरण गुप्त, सोहन लाल द्विवेदी आदि कवियों का अवदान चिरस्मरणीय रहेगा।

आधुनिक भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का एक दीर्घ परंपरा उपलब्ध होती है जो सैकड़ों वर्षों की पराधीनता से जनता को मुक्ति दिलाने की दिशा में परम सहायक सिद्ध हुई है। इसमें संदेह नहीं कि उपयुर्क्त भाषाओं के साहित्य में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह और आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्तियाँ अभिलक्षित होती हैं। यह भी तथ्य है कि इनसे लोकमानस में राष्ट्रीय चेतना पुनर्जाग्रत हुई, परंतु इनमें से कोई भी भाषा स्वतंत्र भारत के सर्वोच्च आसन पर समासीन नहीं हो सकी और किसी भी साहित्य में अभिव्यक्त मानव-मूल्य प्रशासकों के पथ-प्रदर्शक या दिशा-निर्देशक अथवा चरित्र-निर्माण में प्रतिमान नहीं बन सके। पर क्या राष्ट्रीय चेतना स्वतंत्रता-प्राप्ति तक ही जीवित रही है और अब निष्प्राण हो गई है। मेरे विचार से स्वतंत्रता-आंदोलन के प्रवाह में भारतीय जनता ऐसे बह गई कि सबको एकता के सूत्र में पिरोने वाली संस्कृति को ही वह भूल बैठी है। भारतीय जन वैदिक संस्कृति को भूल गये जो हमें जीवन मूल्यों एवं नैतिक मूल्यों से बांधती है। सहस्रों वर्ष पूर्व संकलित वेदों में राष्ट्रीय चेतना का जो स्वरूप अंकित किया गया है उसकी एक झलक हम देख लें तो ज्ञात हो जायेगा कि राष्ट्र क्या होता है और उसकी भव्य चेतना कैसी होती है। यजुर्वेद के एक मंत्र में राष्ट्र की समग्र चेतना का रेखांकन मंत्रद्रष्टा ऋषि ने इन शब्दों में किया है—

"हे ब्रह्म! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण हों, शूरवीर अस्त्रधारी क्षत्रिय हों जो

शत्रुओं को विध्वंस करने में समर्थ हों', विपुल दुग्ध देने वाली धेनु हों, वहनशील बलशाली वृषभ हों, शीघ्रगामी अश्व हों, सर्वगुण संपन्न और सदाचार का पालन कराने वाली स्त्रियां हों, विजेताओं के उपयुक्त वाहन हों, पराक्रमकारी तरुण युवक हो, उत्तम और प्रभावशाली वक्ता हों, उपयुक्त समय पर बरसने वाले मेघ परिलक्षित हों, औषधियां फलवती हों और संपूर्ण जन समूह का योगक्षेम संपन्न हों।

आ ब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः
पुरंधिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे-निकामे नः पर्जंयो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यंतां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

□

कला और जीवन

मनोरमा भटनागर

मानव के सर्वांगीण विकास के लिए कला का ज्ञान आवश्यक है। भर्तृहरि का लिखा हुआ यह प्रसिद्ध श्लोक मानव जीवन में कला के महत्व पर प्रकाश डालता है·

साहित्य संगीत कला विहीन .।
साक्षात् पशु · पुच्छ विषाण हीन :।।

संगीत और कला का ज्ञान मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास करके उसे पशुत्व से ऊपर उठाता है, जीवन में सत्य, शिव और सुंदर को पहचानने की क्षमता देता है और आत्म संतोष एवं आनंद की अनुभूति कराता है जिसका मंगलकारी प्रभाव व्यक्तित्व का विकास करता है।

सृष्टि की श्रेष्ठतम् कलाकृति मानव विवेकशील प्राणी है।। आदिकाल से ही उसने जीवन की दो भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं का अनुभव किया। एक का सीधा संबंध उसके जीवन के स्थूल पक्ष से था और दूसरी का उसके हृदय में उठने वाली अस्पष्ट भावनाओं अथवा जीवन के सूक्ष्म पक्ष से। जीवन के ये दोनों पक्ष मानव की कर्म भूमि मे प्रेरणास्रोत बने। जहॉ मानव ने जीवन-निर्वाह के लिए दैनिक स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाए वहीं प्रकृति में व्याप्त सौंदर्य से अभिभूत होकर उन्हें सुंदर बनाने का प्रयास भी किया। उसका यह प्रयास ही उस युग की कला है। विश्व में आज तक की सभ्यता और संस्कृति की कहानी जीवन में कला के महत्व की कहानी भी कही जा सकती है। प्राचीन काल से प्राप्त कला-सामग्री और प्राचीन ग्रंथों में कला विषयक चर्चाएं सिद्ध करती हैं कि लोगों के जीवन में कला की सदैव महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आदिम काल में उसके हथियारों के गठन में निरंतर सौंदर्यपूर्ण विकास, नित्य प्रति उपयोग में आने वाले मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी और आश्रय-स्थलों पर को आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही संतुष्ट नहीं रहता। उसे कुछ और भी चाहिए जो उसे मानसिक तृप्ति और अपूर्व आनंद दे सके। यह सुख उसे मानवीय कौशल द्वारा अपने मन की अमूर्त कल्पना को मूर्तरूप दे कर ऐसे सृजनात्मक कार्यों से ही प्राप्त होता है। सौंदर्य के प्रति आकर्षण से प्रेरित उसकी यही भावनात्मक अभिव्यक्ति उस काल की कला है। जिसका महत्व उसके सर्वांगीण विकास में सर्वोपरि रहा।

भारत में वैदिक काल में लकड़ी और धातु के खिलौने और अन्य वस्तुओं के गठन पर उसी प्रकार बल दिया जाता था जिस प्रकार आज हमारे ग्रामों की नारियां अपने व्रत-सस्कारों और जीवन के मंगलकारी अवसरों पर मिट्टी के खिलौने नर-नारी और पशु-पक्षी के चित्र

अपनी भावना और क्षमता के अनुसार बनाती हैं। गांवों में उत्सवों में तरह-तरह के खिलौने और आलंकारिक उपकरण बना कर लोग मेलों में बेचते हैं। ग्रामीण अपने देवी-देवता भी अपने आस पास उपलब्ध सामग्री जैसे मिट्टी, काष्ठ पुआल आदि से बनाते हैं और कभी-कभी पत्थर भी तराश कर भिन्न-भिन्न रूपों में देव मूर्तियों की रचना करते हैं। घर की मिट्टी के लेप वाली दीवारों को गेरू के लाल रंग और चावल या चूने की सफेदी से विभिन्न प्रतीक चिह्नों से सजाते हैं। नगरों में भी लोग अपने घरों को प्रेम जड़े चित्रों और मिट्टी, पत्थर अथवा धातु की प्रतिमाओं से सजावट करते हैं।

चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य कला का प्रयोग विभिन्न धर्मों के प्रसार एवं प्रचार में मिथकों, आख्यानों, देवी-देवताओं, बिंबों, प्रतीकों और विचार को लोकप्रिय और पूजा का विषय बनाने के लिए होता रहा। धर्म ने कला को गौरव दिया और कला ने धर्म से प्रबल प्रेरणा पाकर धर्म को सौंदर्य और अभिव्यक्ति के लिए साधन दिए। प्रत्येक काल तथा समाज में कुछ प्रतीक चिह्न जादू के उपकरणों के रूप में कला द्वारा परंपरा में चलते रहे। इनके अतिरिक्त व्यावहारिक जीवन में प्रयोग में आने वाले कौशल पूर्वक गढ़े गए उपकरण बर्तन, साज सज्जा की सामग्री, आदि को भी अधिक से अधिक कलात्मक बनाने का प्रयास होता रहा।

जीवन में सौंदर्यानुभूति हमें मानसिक तृप्ति दे कर आनंदित करती है। युगों के इतिहास में कला का यह जन मन रंजन कार्य महत्व रखता है। घोर भौतिकतावादी मार्क्स ने भी जीवन के सौंदर्यात्मक पहलू की अवहेलना नहीं की है और इसे जीवन का अविभाज्य हिस्सा माना है। उसने सोचा था कि समाजवादी समाज में कला मनुष्य की स्वाभाविक स्वस्थ वृत्ति होगी।

कला जीवन की चिरसंगिनी है और जीवन के साथ अटूट संबंध में बंधी हुई आदिकाल से जीवन के उतार-चढ़ाव देखती हुई चली आ रही है। कला अनेक रूपों में जीवन के कण-कण में रमी हुई है। उसने प्रकृति के निरंतर बदलते सुंदर अभिसार से चमत्कृत और उसकी गत्यात्मक प्रवृत्ति से प्रेरित मानव का अपने विविध रूपों में प्रकट होकर रंजन किया है। कहीं वह प्रकृति की प्रचंड शक्तियों के प्रकोप से अशक्त मानव को आदिशक्ति का प्रतीक बन कर सहारा देती रही, कहीं उसके उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर चित्रकला के रूप में उसे मुग्ध किया। कहीं वह प्रकृति की रमणीयता में भाव-विभोर आत्मविस्मृत हुए उसके हृदय में कविता बन कूकी है तो कहीं झर-झर झरते झरनों जैसी संगीत लहरी से उसे बहलाती रही है। कहीं मंद समीर के हल्के झोंकों से लहराती हरियाली की हरीतिमा से उमंगित मानव के कांत कलेवर की लचक में लास्य के रूप रिझाती रही है तो कहीं उसने मेघों की गर्जना में ताण्डव कर उसे मदमस्त किया है। वास्तव में कला ही जीवन है और जीवन ही कला है।

वैसे तो मनुष्य का प्रत्येक कौशलपूर्ण क्रियाकलाप अपने सौंदर्य तत्व के कारण कला कहलाता है परंतु विभिन्न भावावेगों से प्रेरित एवं प्रभावित होकर मानव समाज के जिस

वर्ग ने अपने सौंदर्यात्मक अनुभवों को विभिन्न कलात्मक प्रक्रियाओं द्वारा छंद से युक्त अभिव्यक्ति दी उसी ने कला को जन्म दिया। काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि ललित कलाएं इसी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप हैं। इन कलाओं का जीवन में जो महत्व है उसी के ठोस आधार पर विश्व में सभ्यता और संस्कृति की विशाल अट्टालिकाएं खड़ी हैं।

प्राचीन साहित्य में उपलब्ध कला संबंधी प्रसंगों और चर्चाओं से ज्ञात होता है कि भारत में प्राचीन काल से ही कला के विविध रूप समाज में प्रतिष्ठित थे। भारत की सांस्कृतिक परंपरा अति समृद्ध थी उसमें जीवन में असुंदर के लिए कोई स्थान न था। एक समय था जब इस देश के निवासी आत्म गौरव से भरे हुए, जीवन की उमंग लिए सौंदर्य में परम तत्व को खोजते हुए कलाओं का रक्षण, पोषण और सम्मान करते थे। उन्होंने विशाल साम्राज्य स्थापित किए थे और अन्य देशों में वाणिज्य और यात्राओं द्वारा अपनी सभ्यता और संस्कृति के कीर्ति स्तंभ खड़े किए थे। उस समय देश में एक ऐसी जागरूक नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई जिसने कला को सर्वोपरि स्थान और संरक्षण देकर सम्मानित किया। उस समय का समृद्ध साहित्य, काव्य, नाटक आख्यान, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद, संगीत, नृत्य आदि इस बात का प्रमाण हैं कि भारतवासियों ने जीने की कला का आविष्कार किया था और जीवन में कला की अनिवार्यता को समझा था।

प्राचीन काल में शिल्प एवं कला में कोई भेद नहीं माना जाता था। एक प्रकार से ये दोनों शब्द समानार्थी थे। "ऐतरेय ब्राह्मण" में कलाकृति के लिए दो बातें आवश्यक कही गई हैं—वह कौशल युक्त और छंद अर्थात्, लय, संतुलन अनुपात एवं सामंजस्यपूर्ण होनी चाहिए। किसी भी कार्य की कौशलपूर्वक की गई भावपूर्ण छंदमय अभिव्यक्ति कला थी। शास्त्रों के अनुसार एक नागरिक के लिए अन्य विधाओं के साथ-साथ कला का ज्ञान होना भी आवश्यक माना जाता था। उसके कक्ष में एक ओर वीणा, दीवार पर चित्र, तूलिका रखने के लिए पात्र (वर्तिका समुद्‌दक) एक चित्रित ग्रंथ और सुगंधित फूल होना उसके शिक्षित होने और सुरूचि के परिचायक समझे जाते थे। वही नागरिक सुसंस्कृत कहलाता था जिसे कलाओं का भी ज्ञान होता था। प्राचीन बौद्ध ग्रंथ 'ललित विस्तर' में राजकुमार सिद्धार्थ और यशोधरा के विवाह संबंधी एक बड़ी रोचक कथा है। राजकुमार सिद्धार्थ को स्वयं को योग्य प्रमाणित करने के लिए नवासी प्रतियोगिताएं जीत कर शिल्पज्ञ और सुसंस्कृत होने का परिचय देना पड़ा था। अनेकों सुंदरी कन्याओं में से राजकुमार सिद्धार्थ जब यशोधरा के प्रति आकर्षित हुए तो उनके पिता राजा शुद्धोदन ने यशोधरा के पिता दण्डपाणि के पास यशोधरा का विवाह राजकुमार से कर देने का प्रस्ताव भेजा। दण्डपाणि एक सामान्य नागरिक थे। उनकी पुत्री राजवधू बने, उनके लिए यह सौभाग्य की बात थी। पर दण्डपाणि कहते हैं कि अपनी कुल मर्यादा के अनुसार अपनी कन्या का विवाह मैं अशिल्पज्ञ राजकुमार के साथ करने में असमर्थ हूं। कला का समाज में ऐसा उच्च स्थान था कि दण्डपाणि निर्भयतापूर्वक अपना संशय स्पष्ट कह सके। तब राजकुमार ने नवासी विभिन्न प्रतियोगिताएं आयोजित

करवाई। वे नृत्य, ग्रंथ-लेखन, रूप, रूपकर्म, चित्रकर्म इत्यादि सभी में श्रेष्ठ एवं सर्वजीत घोषित हुए तब यशोधरा से विवाह कर पाए। ऐसे कितने ही प्रसंग हमारे प्राचीन साहित्य में भरे पड़े हैं जो प्रमाण हैं कि हमारी संस्कृति और सभ्यता जीवनदायिनी शक्ति कला की ही देन है।

कला एक ऐसा माध्यम है जो अपनी छंदोमय प्रकृति के कारण सीधे ही दर्शक के हृदय पर अपना प्रभाव डालता है। अपने इसी गुण के कारण प्राचीन काल से कला धर्म और विचारों के आदान प्रदान के लिए सशक्त माध्यम बन गई थी। महान अशोक के समय में बौद्ध धर्म, बौद्ध साहित्य और बौद्ध संस्कृति का संदेश दूर देशों में कला के माध्यम से ही पहुंचा था। विक्रमादित्य के राजकार्य और महान नाटककार कालिदास ने अपने नाटकों में कला की सूक्ष्म विशेषताओं का ऐसा यथार्थ वर्णन अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही किया होगा। उनके नाटक अभिज्ञान शाकुंतलम् में शकुंतला का चित्र बनाते समय दुष्यंत द्वारा प्रकृति के चित्रण की सूक्ष्म विवेचना और "रघुवंश" में अयोध्या नगर के ध्वस्त कला वैभव का मार्मिक चित्रण प्राचीन काल में कला के महत्व को उजागर करता है।

इतिहास में गुप्त सम्राटों का राज्यकाल स्वर्णयुग इसीलिए कहलाता है क्योंकि उस युग में भारत की राजनैतिक प्रभुता के साथ-साथ साहित्य चित्रकला मूर्तिकला और वास्तुकला की समाज में पुनः अनुपम प्रतिष्ठा हुई। गुप्त युग से पहले भारत की प्राचीन कला संपदा जो विदेशियों के आक्रमणों से नष्ट हो चुकी थी, गुप्त सम्राटो के संरक्षण में पुनः पनपी। अजंता एलोरा का अतुल कला वैभव, अनेकों दिव्य मूर्तियां हजारों की संख्या में निर्मित कलापूर्ण मृणमूर्तियां समाज में कला के व्यापक अस्तित्व का प्रमाण हैं। 'नीतिसार' के रचयिता कामंदक के अनुसार समाज में जातियों का नामकरण भी कलाओं के आधार पर किया गया।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में कला को व्यक्ति की आत्मा के संस्कार का साधन माना गया है—कि मनुष्य अपनी आत्मा के संस्कार अर्थात् जीवन बेहतर बनाने के लिए कला सृजन करता है। कला मनुष्य की सृजनात्मक इच्छा है जिसे वह लयात्मक ध्वनि अर्थात् संगीत के, रेखा रंग, आयतन, दिक प्रकाश और छाया घुमाव और कोणों आदि अर्थात् चित्रकारी शिल्प स्थापत्य आदि के, और चेष्टाओं और गतियों अर्थात् नृत्य और नाटक के द्वारा बाह्य और मूर्त रूप देता है तथा जो सभी लय और संतुलन, अनुपात और सामंजस्य, आरोह और अवरोह और स्वर, क्रम आदि के अनुसार किसी वस्तु को गढ़ता है तो बिना जाने ही कुछ समय के लिए ही सही वह उनके प्रति समर्पित हो जाता है इसीलिए उन नियमों को जीवन में आत्मसात् करके अपने आपको तथा अपने जीवन और चिंतन के स्वरूप को इनके द्वारा निर्धारित होने देता है अर्थात् बेहतर जीवन की ओर अग्रसर होता है जिसे हम सुसंस्कृत और संस्कारबद्ध जीवन कह सकते हैं।

कला भावनाओं और अनुभूतियों की ऐसी अभिव्यक्ति है जो कलाकार के साथ-साथ दर्शकों और श्रोताओं को भी प्रभावित कर उन्हें अपने मन की अस्पष्ट भावनाओं को समझने

और आत्मिक संतोष कराने में सहायक होती है। कलाकृति के द्वारा चाहे वह चित्र रूप में हो या काव्य, अभिनय, संगीत, नृत्य आदि में, हमारे अंतर्मन पर उसका प्रभाव पड़ने पर कुछ शारीरिक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती है। उसका जो तत्व हमारी इन्द्रियों और अनुभूतियो को पहली ही नज़र में आत्म विभोर कर परमसुख और संतोष प्रदान करता है वह है उसकी लयात्मकता और संतुलन, आरोह-अवरोह, सामंजस्य और अनुपात, ध्वनि और मौन, रेखाएं और रंग, गहराई और सतह, चेष्टाएं और गतियां, प्रकाश और छाया, विराम और वेग आदि। जब हम किसी कलाकार की मधुर कल्पना में अपनी भावनाओं को पहचान उठते है तो इस आत्मदर्शन से मन निर्मल हो जाता है।

कला की इस कल्याणकारी विशेषता ने ही उसे समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उच्च स्थान दिया है। महान दार्शनिक अरस्तू ने भी कला के इस गुण को स्वीकार करते हुए नाटकों के संदर्भ में कहा था कि नाटक का मुख्य कार्य तो हमारी भावनाओं का शुद्धिकरण है। कलाकार अपनी भावनाओं के उद्वेग को अभिव्यक्ति करके अपनी कलाकृति द्वारा दूसरों तक पहुंचाता है जिससे उनके संवेगों का संस्कार होता है। वे भी उन भावनाओं और विचारों से तादात्म्य स्थापित करके और अनुप्रेरित हो कर स्वयं को समझ सकते है और आत्मिक शांति अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार कला नैतिक मूल्यों का दिशा निर्देश करती है और व्यक्तित्व को सामाजिक आदर्शों के अनुरूप बनाने में सहायक होती है। ग्रीक लोगों का विश्वास कि सौंदर्य ही नैतिक भलाई है वास्तव में एक सरल सीधा सत्य है। इसमें क्लिष्टता नहीं। सौंदर्य से तात्पर्य बाह्य सौंदर्य या रूप सौंदर्य नहीं है सौंदर्य तो मानव के आध्यात्मिक कल्याणकारी आचरण में निहित है। उनके अनुसार कुरूपता पाप है। कुरूपता अर्थात् स्वार्थवश उपजी मन की कलुषता। कालिदास भी सौंदर्य का उद्देश्य पापवृत्ति के लिए नहीं बल्कि जीवन में सदाचार के अभ्युदय के लिए मानते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में तो यह स्थापना थी ही कि कला प्रधानतः भावनाओं और वृत्तियों और गौणतः बुद्धि के संस्कार का माध्यम है। विश्व में मानव संगठन, शासन और साम्राज्य और कानून सदा नहीं रहते पर मानव की सामाजिक प्रवृत्तियां और मूल्य सदैव जीवित रहते हैं इनका संरक्षण कला द्वारा होता रहता है और ये अपने युग की सभ्यता और संस्कृति की पहचान कराते रहते हैं। इसलिए यदि मानव सच्चे मन से कला के इस सौंदर्य तत्व की नैतिकता में विश्वास करे तो आचरण के समस्त मूल्य स्वतः ही सुधर जाएंगें और इसीलिए कला जीवन में धन और ज्ञान से भी अधिक महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। □

कनाडा में हिंदी और सृजन कर्म

डॉ. कुलदीपचंद अग्निहोत्री

मुकुल हिंदी विद्यालय की स्थापना कनाडा की संघीय राजधानी ओटावा में तत्कालीन भारतीय उच्चायुक्त की पत्नी श्रीमती मेधाभदकमकर के प्रयासों से 1971 में हुई थी। वित्तीय सहायता संघीय सरकार, प्रांतीय शिक्षा मंत्रालय के विरासत भाषा कार्यक्रम के अंतर्गत प्राप्त हुई थी। इस स्कूल का विस्तार हो रहा है एवं अब इसकी दो शाखाएं, सर राबर्ट बोर्डन शाखा और हिल क्रैस्ट शाखा खुल गई है। छात्रों की संख्या तीन सौ के आस पास और अध्यापकों की दस के लगभग है। 'मुकुल' जहां छात्रों को हिंदी भाषा का ज्ञान (लिखना, पढ़ना एवं बोलना) करवाता है, वहीं यह भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के तौर पर भी काम करता है। हिंदी कवि सम्मेलनों का आयोजन (2 अक्तूबर 1984 को काका हाथरसी के सम्मान में कवि सम्मेलन), दीवाली, होली, भारत स्वतंत्रता दिवस गणतंत्र दिवस इत्यादि का आयोजन भी इसके कार्यक्रमों में सम्मिलित है। भारतीय नृत्य, शास्त्रीय संगीत, वाद्य गायन, इत्यादि की शिक्षा भी विद्यालय में दी जाती है।

स्कूल ऑफ ईस्ट इंडियन लैंगुएजेज एंड आर्ट

कैलगरी में स्थित यह विद्यालय हिंदी भाषा के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त भारतीय ललित कलाओं की शिक्षा भी देता है। कैरेबियन देशों से आये भारतीयों को इधर ईस्ट इंडियन के नाम से ही पुकारा जाता है। अतः इस आधार पर हिंदी का वर्गीकरण भी पूर्वी भारतीय भाषा में हो जाता है।

हिंदी परिषद् टोरांटो

यह परिषद् भी हिंदी शिक्षण की व्यवस्था करती है। 1985 में परिषद ने टोरांटो नगर में चार शिक्षण केंद्र खोले। परिषद् के उत्साही हिंदी शिक्षकों में श्री जगदीश शास्त्री, श्री कमलेश शारदा, श्री अमरनाथ वातिश व श्रीमती अजीत वधवा के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिंदू स्वयंसेवक संघ

कनाडा का हिंदू स्वयंसेवक संघ भी अनेक स्थानों पर हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था करता है। स्वयंसेवक संघ छात्रों की साप्ताहिक बैठकों का आयोजन करता है। जिसमें अन्य कार्यक्रमों के अलावा हिंदी शिक्षण की भी व्यवस्था होती है। संघ के साप्ताहिक, पाक्षिक शिविर भी होते हैं जिनमें हिंदी पढ़ाई जाती है। इन कार्यक्रमों से जुड़े हिंदी सेवियों में श्री एल.एम. वधवा, श्री सुरेंद्र शारदा, श्री सत् वधवा इत्यादि प्रमुख हैं।

विश्व हिंदू परिषद् ऑफ ब्रिटिश कोलंबिया

परिषद् ने अनेक हिंदी शिक्षण केंद्र खोले है जिनकी संख्या समयानुसार व छात्रानुसार घटती बढ़ती रहती है। परिषद् का प्रमुख ध्येय तो सास्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना ही है लेकिन हिंदी शिक्षण पर भी ध्यान दिया जाता है और भारत से हिंदी बाल साहित्य मंगवा कर उसका वितरण भी किया जाता है।

केंद्रीय हिंदी निदेशालय नई दिल्ली

इस निदेशालय के पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से भी कनाडा के कुछ छात्र हिंदी सीखते हैं। 1982-83 शिक्षा सत्र मे यह सख्या पाच थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश कोलंबिया विश्वविद्यालय वैंकूवर मे हिंदी के उच्च शिक्षण की व्यवस्था है एवं टोरांटो विश्वविद्यालय में प्रारंभिक स्तर के हिंदी शिक्षण की सुविधा है।

सांस्कृतिक संस्थान

(क) **हिंदी परिषद् टोरांटो** : परिषद् एक लबे अरसे से टोरांटो के आसपास के क्षेत्र में सक्रिय है। भारतीय सांस्कृतिक उत्सवों का आयोजन परिषद् का मुख्य उद्देश्य है। स्थानीय साहित्यिक प्रतिभाओं के मिल जुल बैठने का एक मंच परिषद् ने प्रदान किया है। 19 जनवरी 1985 को परिषद् ने एक कवि सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें 13 कवियों ने भाग लिया। इनमें प्रमुख डा. शिवनंदन यादव, प्रो हरिशंकर आदेश, डा. एस. भारतेंदु, श्री इंद्रकांत पटेल थे। डेढ़ सौ के लगभग श्रोता आधी रात तक बैठे रहे और तन्मय होकर कविता का रस पान करते रहे। टोरांटो में यह अपने प्रकार का पहला सफल आयोजन था। परिषद् हिंदी में अपनी गतिविधियों का लेखा-जोखा देने वाली एक मासिक सूचना पत्र भी प्रकाशित करती है। वार्षिक पिकनिक इसकी गतिविधियों का एक अन्य आकर्षण है और इस अवसर पर लघु भारत का ही भान होता है। यह भारतीयों की सामाजिक चेतना को जागृत रखने का प्रशंसनीय प्रयास है। परिषद् के वर्तमान अध्यक्ष श्री श्याम त्रिपाठी गयाना निवासी हैं। महासचिव कृष्ण कुमार, कोषाध्यक्ष इद्रकांत पटेल, सांस्कृतिक सचिव स्नेह सिघवी और सूचना सचिव कालेश्वर प्रसाद हैं। हिंदी परिषद् तुलसी जयंती, सूर जयंती और हिंदी दिवस का भी आयोजन करती हैं।

(ख) **हिंदी लिटरेरी सोसायटी ऑफ कनाडा** : इसका प्रार्भादुभाव जून 1983 में वैंकूवर में हुआ। सोसायटी प्रसिद्ध कनाडी संस्था 'कनाडी एशियाई अध्ययन संस्थान' (Canadian Asian Studies Association) से संबंधित है। और राष्ट्र की प्रमुख प्रबुद्ध संस्था लर्नेड सोसायटीज ऑफ कनाडा (Learned Societies of Canada) के साथ अपना वार्षिक सम्मेलन आयोजित करती है। इसकी स्थापना हिंदी भाषा

तथा साहित्य के प्रचार प्रसार को दृष्टि में रखकर कतिपय हिंदी प्रेमियों तथा संस्कृति सचेतकों द्वारा की गई थी। उनमें प्रो. ओ.पी. द्विवेदी (ग्वल्फ विश्वविद्यालय), प्रो. आर बी. सिंह (मैकमास्टर विश्वविद्यालय), श्रीनाथ प्रसाद द्विवेदी कैलगरी, डा. राधेश्याम पाण्डेय बिलसनवर्ग, तथा प्रो टी.डी. द्विवेदी (कानकार्डिया विश्वविद्यालय मांट्रियाल) प्रमुख हैं। सोसायटी के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के संबंध में कहा गया है—

1. हिंदी भाषा एवं साहित्य का अध्ययन-अध्यापन प्रोत्साहित एवं समुन्नत करना।
2 हिंदी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में शोध एवं प्रकाशन समुन्नत करना।
3. पत्रिका, समाचार पत्रिका का प्रकाशन करना। सम्मेलनों, कवि सम्मेलनों, एवं विद्वत गोष्ठियों का आयोजन करना।
4 हिंदी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में कनाडा, भारत, एवं अन्य राष्ट्रों के साहित्य और अन्य राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के मध्य शैक्षणिक सूचनाओं के आदान-प्रदान में अभिवृद्धि करना।

अपने उद्देश्यों के अनुरूप ही सोसायटी ने अक्तूबर 1983 में ही एक त्रैमासिक 'हिंदी सवाद' आरभ किया। 6-8 जून 1984 को ग्वल्फ विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा एवं साहित्य पर एक त्रिदिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया। इनमें कनाडा के प्रसिद्ध हिंदी विद्वानो, श्री के ब्रायंट (ब्रिटिश कोलंबिया विश्व.) श्री पुरुषोत्तम पटेल (ओटॉवा), श्री तेज भाटिया, श्रीनाथ प्रसाद द्विवेदी कैलगरी, श्री राबर्ट हियूशटड (हावर्ड), श्री राजेंद्र सिह (मांट्रियाल) श्री सी.पी सिंह (कानकार्डिया) ने हिंदी भाषा एवं साहित्य के विभिन्न पक्षों पर शोध पूर्ण निबंध पढ़े एवं कनाडा में हिंदी की स्थिति का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। यह गोष्ठी लर्नेड सोसायटीज कांफ्रेंस 1984 के अंतर्गत संपन्न हुई।

(ग) **क्यूबेक हिंदी एसोसिएशन** : कनाडा के फ्रैंच बहुल क्षेत्र [Rivereds Prairies] में कार्यरत यह सस्था हिंदी के शिक्षण एवं साहित्यिक गतिविधियों से संबंधित है। इसके क्रियाकलापों में भी कविता पाठ, साहित्य परिचर्चाएं एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन होता है।

(घ) **हिंदी परिषद् ऑफ मनीटोबा** : हिमशीत विनीपेग में कार्यरत इस परिषद् ने एक प्रकार से ध्रुवों के आसपास भी हिंदी स्वरों को मंच प्रदान किया है। परिषद् कलात्मक एवं साहित्यिक रूचि संपन्न हिंदी प्रेमियों को एक सार्थक मंच प्रदान करती है। सांस्कृतिक कार्यक्रम, स्थानीय कवियों के कविता पाठ, पिकनिक, होली, दीवाली, बसंतपंचमी का आयोजन सब परिषद के कार्य क्षेत्र में आते हैं। *चलचित्र वीडियो* ये दोनों माध्यम कनाडा में हिंदी के सार्थक वाहक बन कर उभरे हैं। दूरदर्शन के हिंदी कार्यक्रमों में प्राय· सप्ताहांत में हिंदी चलचित्र दिखाया जाता है। वीडियो के प्रचार से तो अब घर बैठे ही चलचित्र देख सकना संभव हो गया है। वीडियो क्रांति ने कनाडा में जन्मी, पली व बढ़ी भारतीय पीढ़ी को एक बार फिर हिंदी की ओर

उन्मुख किया है। और उसे समझने के प्रयासों को बढ़ावा दिया है। लिखने पढ़ने की बात छोड़ भी दें तो केवल समझ एवं बोल सकने की क्षमता के प्रति इस पीढ़ी को प्रेरित किया है।

आकाशवाणी व दूरदर्शन

कनाडा के अनेक आकाशवाणी व दूरदर्शन केंद्रों से हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं के कार्यक्रम प्रसारित होते रहते हैं। कनाडा में आकाशवाणी व दूरदर्शन का पूरा ढांचा भारतीय ढांचे से एकदम भिन्न है। यहां ये दोनों संस्थान सरकारी क्षेत्र में नहीं हैं, बल्कि इन पर निजी क्षेत्र का अधिकार है। प्रायः प्रत्येक नगर में अपने छोटे-बड़े आकाशवाणी व दूरदर्शन केंद्र बने हुए हैं। स्थानीय भारतीय संस्थाएं इन केंद्रों से निश्चित दिनों में भारतीय कार्यक्रम प्रस्तुत करती हैं। इसके लिए उन्हें निश्चित शुल्क अदायगी करनी पड़ती है। अधिकतर कार्यक्रम प्रायः शनिवार एवं रविवार को ही प्रसारित होते हैं। इनमें प्राय: हिंदी फिल्मी गीत एवं सामयिक विषयों पर टिप्पणियां प्रसारित की जाती हैं। हिंदी भाषा के इन कार्यक्रमों में टोरांटो से रविवार को प्रसारित शाम-ए-ग़ज़ल, वायस ऑफ इंडिया वैंकूवर से रविवार को ही प्रसारित पावला संगीत माला, सोमवार को प्रसारित सबरस रेडियो व संगीत संसार, मिस्सी साऊगा से शनिवार को प्रसारित अमृतवाणी भजनावली, शनिवार व रविवार को प्रसारित मधुरवाणी, कुकविला से शुक्रवार को प्रसारित गीतमाला, ब्रम्पटन से रविवार को प्रसारित मधुरवाणी काफी प्रसिद्ध व लोकप्रिय कार्यक्रम हैं।

हिंदी पत्र-पत्रिकाएं

भारती : ओंटारियो के टोरांटो नगर से श्री त्रिलोचन सिंह गिल 'भारती' नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। इसे कनाडा की सर्वप्रथम मासिक पत्रिका कहा जा सकता है। (वैसे तो गदर के दिनों में प्रकाशित पत्रिका 'गदर' में भी हिंदी के लेख व कविताएं छपती थीं) सामग्री प्रायः भारतीय पत्रिकाओं से ज्यो की त्यों उठा ली जाती है। उसमें संपादकीय योगदान प्रायः नगण्य ही होता है। पत्रिका साहित्य प्रधान है, समाचार मूलक नहीं। प्रो. गिल कनाडा में पंजाबी के जाने माने साहित्यकार हैं। उन्होंने एशिया प्रकाशन संस्थान खोल रखा है। यही संस्थान पत्रिका का प्रकाशन करता है। आजकल भारती की संपादिका श्रीमती प्रेमजीत गिल हैं और श्री त्रिलोचन सिंह गिल उसके प्रतिष्ठित सलाहकार हैं।

विश्व भारती . विश्व भारती भी टोरांटो, ओंटारियों से ही प्रकाशित होती है। इसका प्रथम अंक अगस्त 1981 में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशन अवधि साप्ताहिक व पाक्षिक के बीच दोलायमान रहती है। आजकल विश्व भारती पाक्षिक है। यह एक मात्र पत्रिका है जिसके पास अपना छापाखाना है। कनाडा में शायद विश्व भारती मुद्रणालय एक मात्र हिंदी मुद्रणालय है।

विश्व भारती का संपादन व प्रकाशन श्री रघुवीर सिंह करते हैं। और उन्होंने 'साईकिल पर विश्व भ्रमण किया है' यह बताना वे कभी नहीं भूलते। पत्रिका में भारतीय समाचार, कनाडा में कार्यरत भारतीय सभा संस्थानों के क्रियाकलापों की सूचनाएं, फिल्म लोक, स्थानीय व भारतीय साहित्यकारों की सृजनात्मक रचनाएं प्रकाशित होती हैं। प्रमुख स्थाई स्तंभों में समाचार दर्शन, बाल जगत, संपादकीय, इंद्रधनुष, कविता उपहार, महिला जगत हैं।

नवभारत : अंग्रेजी व हिंदी का द्विभाषी यह पत्र अल्पकाल में ही दम तोड़ गया। इसका प्रकाशन टोरांटो से 1977 में हुआ था। यह पत्र समाचार प्रधान था।

जीवन-ज्योति · त्रिनिदाद के सुप्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार प्रो. हरिशंकर आदेश अब कनाडा में बस गये हैं। और उन्होंने अपनी परपरा के अनुरूप ही नवम्बर 1982 से 'जीवन-ज्योति' मासिक पत्रिका का प्रकाशन टोरांटो से प्रारंभ किया। जीवन ज्योति में संगीत विषयक रचनाओं का बाहुल्य रहता है। परंतु इसका प्रमुख स्वर सांस्कृतिक चेतना प्रधान है।

हिंदी संवाद : हिंदी लिटरेरी सोसायटी कनाडा ने त्रैमासिक 'हिंदी संवाद' का प्रकाशन कर पहली बार कनाडा में हिंदी को सही साहित्यिक गरिमा प्रदान की है। हिंदी संवाद का प्रथम अंक अक्तूबर 1983 में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशन से सचमुच कनाडा मे एक स्तरीय हिंदी साहित्यिक पत्रिका की कमी की पूर्ति हुई है। इसके प्रमुख संपादक श्री नाथ प्रसाद द्विवेदी कैलगरी हैं। पत्रिका भारतीय, स्थानीय व अन्य देशों के प्रवासी भारतीयों के सृजनात्मक साहित्य को प्रकाशित करती है। और गंभीर शोधपरक लेखन को भी प्रोत्साहित करती है। पत्रिका का प्रकाशन वैंकूवर से होता है।

संगम · संगम पाक्षिक का प्रकाशन 1985 मे प्रारंभ हुआ। समाचार प्रधान इस पत्रिका के संपादक व प्रकाशक श्री उमेश कुमार विजय हैं। कनाडा आने से पूर्व वे दिल्ली में हिंदी दैनिक नवभारत टाइम्स में सहायक संपादक के पद पर कार्य कर चुके हैं, अतः इस मायने में वे कनाडा में हिंदी के अनुभवी पत्रकार हैं। और शायद ? एक मात्र अनुभवी पत्रकार। इस पत्रिका में भारत के समाचारों, संपादकीय टिप्पणियों के साथ-साथ कनाडा के समाचार भी होते हैं। और साहित्यिक अभिरूचि संपन्न पाठकों के लिये साहित्य अनुभाग भी।

विश्वविद्यालयों में हिंदी

कनाडा के अनेक विश्वविद्यालयों में स्नातक स्तर तक कोई न कोई विदेशी भाषा पढ़ाई जाती है। इन विदेशी भाषाओं के माध्यम से छात्र कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं। कनाडा के कुछ गिने-चुने विश्वविद्यालय इन विदेशी भाषाओं में हिंदी को भी शामिल करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में हिंदी का केवल आरंभिक ज्ञान ही करवाया जाता है लेकिन कुछ में उच्च स्तर के अध्ययन की भी व्यवस्था है। हिंदी पढ़ने वाले छात्र प्रायः भारतीय मूल के ही होते हैं, लेकिन कुछ एक गोरे छात्र भी उत्सुकतावश या उद्देश्यवश हिंदी का अध्ययन करते हैं।

ब्रिटिश कोलंबिया, टोरांटो, वैंकूवर, विंडसर. मैकगिल विश्वविद्यालय हिंदी पढ़ाने में अग्रणी हैं। वैंकूवर तथा विंडसर विश्वविद्यालयों में मध्यकालीन तथा आधुनिक हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं। मैकगिल विश्वविद्यालयों में हिंदी तथा उर्दू का मिला जुला कार्यक्रम चलता है।

हिंदी पढ़ने वाले छात्र-छात्राए भारत व भारतीय परिस्थितियों, भारतीय संस्कृति के बारे में क्या सोचते हैं ? उनकी भाषा, शैली, विचार क्या हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कनाडा के साहित्यकारों की हिंदी रचनाएं भी प्रकाशित हो रही हैं। अरसा पहले रोजी रोटी की तलाश में या फिर सुनहरे भविष्य की खोज ने उन्हें कनाडा ला पटका। वे जीवन से जूझे और जब कुछ जम गये तो उनके दबे स्वर मुखर होने लगे। वे स्वर जो कनाडा की हिमशीत मे जम से गये थे। विनिपेग के श्री लिभु शेखर की पीड़ा यों अभिव्यक्त हुई है:

> पीड़ा का अनुभव सिमट कर,
> शून्य के समीप, एक बिंदु बन कर ठहर गया है।
> मैं सहमा हुआ/मृत्यु की परिभाषा जानना चाहता हूं।

कश्मीर में जन्मे, अब कनाडा वासी श्री योग राही गुप्त उर्दू में भी लिखते हैं। उनकी उर्दू शैली का प्रभाव उनकी हिंदी कविता पर भी पड़ता ही है। ठीक उर्दू परंपरा को निबाहते हुए वे कनाडा में बैठकर भी विरह-ज्वाला में संतप्त हैं—

> मैं दूर विरह की ज्वाला में, जलता रहता हूं सदा प्रिये !
> तस्वीर तेरी इन आंखों से, ओझल कैसे हो आज प्रिये !
> दिल दिया तुम्हे अपना, बदले में बस संताप मिला !
> तुम अपने मन से ही पूछो, क्या मैंने कोई पाप किया ?

अब यह प्रिया सुदूर कश्मीर में बैठी है, तब तो कवि का विरही मन पाठक की सहानुभूति पायेगा ही, लेकिन यदि कवि कनाडा में बैठकर भी उर्दू जमाने के वियोग मिलन में खोया है तो क्या कहा जाये?

विनिपेग की ही ऊषा रानी सहर इलाहाबादी का अंदाज भी कुछ ऐसा ही दिखाई देता है:

> जब कोई छेड़े तराना जिंदगी के साज पर।
> झूम जाये दिल दीवाना साज़ की आवाज़ पर।
> प्रीति की अंगड़ाइयों में रूप का अंबार भर दो।
> कल्पना मेरे हृदय की प्यार में साकार कर दो।

विनिपेग की ही आशा रानी गुप्त को अब अनुभव होता है कि यह सारा संघर्ष, भाग दौड़ बेकार ही तो है। शायद अप्रत्यक्ष रूप से यह कनाडा की यांत्रिक जिंदगी पर व्यंग्य हो :

कारवां चलता है—
पर कहीं कुछ चाह नहीं, चाव नहीं।
यह कैसी व्यथा है, कैसी चुभन है।
जीते हैं हम, पर जान नहीं।

मैनीटोबा के श्री शरदचंद्र कनाडा में भी अपने कलाकार को सशक्त करने मे लगे हैं। यह श क्ति ही तो कलाकार का संबल है

शाम ने सब के मुखों पर राख मल दी।
मैं जला हूं तो सुबह लाकर बुझूंगा।
जिंदगी सारी गुनाहों में बिता कर।
जब मरूंगा देवता बन कर मरूंगा।
आंसुओं को देख कर मेरी हँसी तुम मत उड़ाओ।
मैं न रोऊं तो शिला कैसे गलेगी ?

विनीपेग के श्री रमेश चंद्र गुप्त शायद प्रवासी भारतीयों के सामूहिक स्वर को मुखरित करते हुए कहते हैं—

बसेरा उठेगा कभी तो यहां से।
चलेंगे वहां कल थे आये जहां से।
ये भादों के बादल हवा में बहेंगे।
करेंगे विदा हम तुम्हीं को यहां से।
कारवां कब रुका है किसी के लिये।
यह समय की कहानी, कहो न कहो।

डा. एस. भारतेंदु कनाडा के वरिष्ठ मौसम वैज्ञानिक हैं। हिंदी में कविता का शौक बचपन से ही है। भारतीय चाहे सुदूर कनाडा में ही क्यों न हों लेकिन देश के तीज-त्यौहार कैसे भूलेगा ? होली आ गई है। लेकिन इधर तो घर के बाहर बर्फ के अंबार लगे हैं। कोई होली जलाये तो कैसे ? डा भारतेंदु लिखते हैं—

रामा! परदेसवा में हम कैसे मनइबे होली ?
बाहर बर्फ का ढेर लगा है जाड़े की ऋतु आई।
जकड़ गयो पूरो शरीर, हम कैसे होली जलाई।
कहीं अबीर मिलै न मुझको, रत्ती भर न गुलाल।
मेरे साजन के कपोल का कैसे हो रंग लाल ?

श्री इंद्रकांत पटेल की कविताओं में भारतीय समस्याओं एवं छूट गई मातृभूमि के प्रति व्याकुलता परिलक्षित होती है :

एक हैं, हम एक हैं।
आवाज उठी हम एक हैं।
पूर्व से उठी/पश्चिम से उठी
उत्तर से उठी/दक्षिण से उठी।
एक हैं हम, एक हैं।

देवी चौकती का एक काव्य संग्रह 'प्रेरणा' प्रकाशित भी हो चुका है। वे कनाडा का अभिनंदन करती हैं—

संजीवनी, मनोरंजनी माता।
वंदना तुमको बारंबार।
गद्‌गद् कंठ से गाइये सभी
ओ कैनेडा जय जयकार।

टोरांटो कनाडा का एक प्रसिद्ध नगर है। देवी चौकसी ने उसी का वर्णन किया है

एक अनोखा ओंटारियों पैलेस, मानव समंदर से भाता।
चलचित्र की चर्चा भारी, दर्शक का है दिल गाता।
खिलता फूलता वंडरलैंड, कैनेडा का कृति स्थान।
राजधानी शहर टोरांटो, प्रांत है ओंटारियो।
खिलता फूलता वंडरलैंड, कैनेडा का कृति स्थान।
राजधानी शहर टोरांटो, प्रात है ओटारियो।

श्रीमती शैल शर्मा, प्रो. हरिशंकर आदेश, रीता गुप्त, स्नेह सिघवी, दक्ष आर्य, आशा बर्मन, त्रिलोचन सिंह गिल, सुरेंद्र पाठक, श्री नाथ प्रसाद कैलगरी, राकेश पाराशर कुछ अन्य नाम हैं जो कनाडा में रहकर हिंदी काव्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। इन सभी के स्वरों में भारत से दूर रहने की व्याकुलता कहीं न कहीं परिलक्षित हो ही जाती है। यह काव्य के इंद्रधनुषी सांस्कृतिक आकाश का प्रतीक है। एक भारत कनाडा में जन्म ले रहा है। अभी उसकी शैशवावस्था ही है। लेकिन उसने यह जान लिया है कि धरती चाहे वह भारत की हो चाहे कनाडा की, सदा सर्वदा शस्य श्यामला माँ होती है। धरती माँ। माँ तो अविभाज्य होती है। इसी सांस्कृतिक अवधारणा ने कनाडा के प्रवासी भारतीयों को मकानों से गृह तक पहुंचाया है। अब वे कनाडा में ही गृहवासी हुए हैं। □

सौंदर्य तब और अब

रामेश्वर शुक्ल अंचल

मेरे भीतर काव्य के रसास्वाद का उद्रेक पहले हुआ था या दृश्य नारी सौंदर्य की पहचान पहले, यह बताना आज जीवनव्यापी अंतराल के बाद कुछ कठिन हो रहा है। जब मुझमें ललित भावबोध की शुरुआत हुई उस समय हिंदी कविता यद्यपि रूपपंखी ब्रज माधुरी से मुक्त न हो पाई थी, एक उदांत मानसिकता को अपना चुकी थी। अपनी पीढ़ी की सौंदर्य-चेतना में रमी रीतिकालीन अवशेषों की रसीली घुलावट, तरल विंबों में बहती उसकी पिघलती चारुता की मांसल मनुहार का मधुर आवेग मुझमें भी झूमता था। जब मैं पिताजी के श्रीमुख से कोई प्रेम वर्णन सुनता—'बेगि ही बूड़ि गई पखियां, अँखिया मधु की मखियां भई मेरी या फैन मया करि घूँघट टारे, दया करि दामिनि दीप दिखावे' जैसी पंक्तियां मेरे मन में भी वैसा ही अव्यक्त चित्र उभार देती थीं। मैं सोचता—कैसी होगी वह लावण्य प्रणयिनी जिसके रूप की भीख प्रेमी पा सके इसलिये हवा और बिजली दयार्द हो उठे होंगे? कैसी होगी वह प्रेम-विह्वल नायिका जिसकी आंखें प्रियतम की प्रगाढ़ आसक्ति-माधुरी में मधुमक्खी की तरह लिपटी फँसा निकलने को फड़फड़ा कर रह जाती होगीं। यहीं से नायिका कहे जाने वाले प्रियदर्शी सौंदर्य के प्रति मेरा आकर्षण घनीभूत हुआ। अटारी पर बार-बार 'बिज्जु घटा सी केश बिखेरे चढ़नेवाली सुधा-स्मिता सुधा-वर्षिणी चपलता (पद्माकर) मेरे भीतर भी धड़कनी शुरू हो गयी।

दूसरी ओर छायावाद ने जिस अलंकृत रमणीयता की सृष्टि की वह इस राधा माधवी सौंदर्य-बोध से बिल्कुल भिन्न समुद्र की सी फेनिल विराटता लिये थी जैसे इस लयमयी भव्यता की थाह न हो। कहीं कुछ भी ऐंद्रिक नहीं, सारा का सारा भाव के आलोक से निर्मित रचित था। इस प्रकार सौंदर्य के साथ जुड़ा मेरा बोध दोहरा था। एक ओर क्रमिक रूप और रस की सिमटती प्रतिबिंबनाओं का अंबार लगा था। दूसरी ओर छायावादी अरूप की सौंदर्यछलक भी अपने पूरे वेग पर छायी थी। जो सौंदर्य पार्थिव अनुराग में नित्य नया होता था वही सौंदर्य अब एक प्रकार की अवदात दिव्यता का प्रवक्ता बन गया था। बीच-बीच में रहस्यात्मक झलक दिखा कर वह किसी अज्ञात अकथित दूरी की बातें भी करता था। मेरा युवामन जिस प्रत्यक्ष, मांसल परिक्रमित प्रीति की कामना और उसके साथ लगी रहने वाली भावाविष्ठ व्यंजनाओं से रिसता आया था उसमें सौंदर्य यथार्थ अनुभवों के रस से दिग्ध था। मैंने गलियों वनवीथियों के पतचारी सौंदर्य से ही मुग्धता सीखी थी। सौंदर्य का यह बदला हुआ नभचारी प्रतिमान मुझे सपनीला अहसास तो देता था लेकिन रूप-प्रेरणा धरती पर ही लौट-लौट आती थी। सौंदर्य के प्रतिमानों के परिवर्तन का तीव्र प्रवाह कुछ ऐसा था कि मानवीय मांसलता को कुरुचि और कल्पना के नक्षत्र कुंज की

अछूती रम्य कल्पना को काव्य की जीवनी दीप्त संस्कारशीलता का नाम दिया जा रहा था। सौंदर्य के साथ ही उसका अभिन्न सहचर श्रृंगार भी अप्सरा-लोक की उड़ानें भरने लगा था। जो सौंदर्य प्रेमी की मुग्ध दृष्टि के घेरे के बिना अयथार्थ, अपूर्ण रहता था, जिसकी सारी लचक प्रेम की चुभती गड़-गड़ जाती निगाहों में मूक वाणी पाती थी, जीती जागती निखरती सँवरती थी। वही सौंदर्य बीसवीं सदी के छायावादी कालखण्ड में जैसे मात्र अपने में ही संपूर्ण सार्थकता पाने लगा था। उसे किसी अन्य के दैहिक आकर्षण मिठास और ऊष्मा की दरकार न रह गई थी। जो सौंदर्य अब तक मूलतः पदार्थों और भावों का गुण रह आया था वह अब अपने मूर्ताधारों से कटकर भावशून्यता पदार्थहीनता, अरूप व्यंजना और पवन के आकाशी खोखलों में तलाशा जाता था। एक प्रकार से यह नया भावबोध था जो अभिव्यक्ति की सामाजिकता से असंपृक्त होकर इसे व्यक्ति-मन की ऐकांतिक प्रतीति बनाये दे रहा था। 'वाणी का सार' समझी जाने वाली शारीरिक परिपूर्ति की सारी रागात्मक प्रेरणा को भौतिक भोग की कल्पना और देह-विलास की मौन लालसा की, अतिशय ऐंद्रिक मिलन की कायिक लिप्ति माना जा रहा था। सौंदर्य ने अपार्थिनता और अतींद्रियता के ऐसे नये 'मेकअप' में अपने को छिपा लिया था कि उसमें अनुरागी तन के सारे असंतोष अतृप्त रहते थे। प्रेमाकर्षण की यह अजीब डोर थी जिसमें केवल भाव बंधते थे, शरीर मे नहीं, शरीर की गंधाकुलता में नहीं। सौंदर्य भावनाओं के अंधेरों में बहने वाले झरने की तरह बनकर अंगों की अकुलाहट से किनारा कसे गुमसुम किसी अलक्ष्य, तटहीन शून्यता के सागर 'अनंत' से मिलने के दावे कर रहा था। मधुर दैहिक सान्निध्य का सहज स्वाभाविक स्वप्न देखने वाली किशोरी सरलता जैसी अशरीरी आध्यामिकता का संन्यास ले रही थी। वनपथों, अमराइयों, कुंजों में मिलन की सिहरती आकांक्षा उस असीम अनंत को वाष्पाकुल वेदना बन गई थी जिसमें विश्वस्त, भुक्ता आत्मीयता की सांस तक न सुनाई देती थी।

रूप के भीतर जो अदृश्य अवचेतन रहस्यलोक होता है वही उसकी अप्रकट माधुरी है, गोपनीय अंतर्संपदा है। रूप का सारा अतीत वर्तमान और भविष्य उसी के घेरे में सोता-जागता है। चारो ओर छाये निषेधों में जो झूठा और निस्सार बन चुका होता है वही अपने जाने पहचाने अनुराग की ओट से सौंदर्य की सदेह, प्राणोपम और तनमन के आलोक में निर्झर की तरह गीतमी लयवान लगता है। प्रौढ़ता का दारुण प्रयोजन भी सौंदर्य के रोम-रोम से झरती कांति के अजस्र स्रोत को क्षीण नहीं कर पाता है। किसी भी वर्जना का कैसा भी धुंधला शीत कुहासा उसे म्लाना नहीं होने देता। सौंदर्य के पर्तों में मिली ऊर्जा पर कोई आंच नहीं आती।

ब्रजभाषा की श्रृंगार कालीन रूप-माधुरी का यह रहस्य कल्पना का कम यथार्थ का ही अधिक था। कल्पना तो उसे मानवी घटा प्रदान करती थी—उसकी पारदर्शी मनोरमता को और उभार देती थी। इसे प्रेमाकुल जिजीविषा का रहस्य भी माना जा सकता है। इस रहस्य के पैने अहसास से तिलमिला कर सौंदर्य सारे अवगुंठनों के बावजूद बेनकाब होता भी देखा गया है। बड़े से बड़े संगदिल निषेध में भी वह अपनी भीतरी लचक को नहीं

छोड़ पाता। कितने भी बाहर से हो, अंतर का रहस्य, सौंदर्य का रागबंध कुछ न कुछ झलक हो जाता है। पर रीतिकालीन प्रेम प्रक्रियाओं में यह झलक किसी कुंठित श्रृंखला में कभी बँधी नहीं। वह बिजली की चमक जैसी बेबाक और बेतरतीब रही। उसकी अनियंत्रित कौंध का कोई क्रम नियम नहीं। अबाधता की मतवाली इस जीवन व्यापी ललक का कोई कायदा नहीं।

छायावादी प्रेम कल्पना और उसमें जुड़ा रह जाने वाला सौंदर्य समाज ज्ञान और परिस्थितियों से स्वतंत्र था क्योंकि वह भूमि पर चलता ही न था। विगत शताब्दियों का रूपबोध उसे मर्त्य और अशाश्वत प्रतीत होता था क्योंकि उसमें मानवीय इयत्ता के भावांदोलनों की अभिव्यक्ति थी और यह अभिव्यक्ति समाज के साथ युगों के स्वस्थ संगोपन से जुड़ी थी। ह्रासोन्मुख (इतिहास की दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से नहीं) खुमारों से भरी सौंदर्य भोग की समातवादी समाज विलास-विधा उसे कहा जा कर उसके स्थान पर सूक्ष्म, अंतरंग सौंदर्य के लिये सौंदर्य की प्रबल पुकार उठ पड़ी थी। गोपन अंतः प्रदेश वहिर्लोक के जीवन-व्यापारों और आनंद-संवेदनों से विछिन्न कोई जन्मांतर अंतर्लोक जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से बहिर्मूत का छायावाद का सौंदर्य-प्राण हो गया। सर्वाधिक भावावेग उत्पन्न करने वाला सौंदर्य-कलेवर और उसके लगाव-लिपटाव अरुचिकर, अशालीन, असंस्कारी, अश्लील कहे जाने लगे।

पर सौंदर्य सूक्ष्मता के सारे संचरणों और सौकुमार्य के बीच भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ पाता। जब वह देने पर आता है तो अपने को पूरा का पूरा अपने देय से मिलाकर भी जिस तरह नहीं रूकता उसी तरह तब वह पाना चाहता है तब सिर से पैर तक पाकर भी उसकी चाह नहीं भरती। किसी अतलस्पर्शी आत्मविमुखता या दुःसह यंत्रणा से उसकी प्यास का सोता भीतर भीतर बिल्कुल सूख जाय, यह बात दूसरी है। पर उसी आत्मजा प्यास के एक बार फिर जी उठने पर जब वह पीना चाहता है तो आकंठ पीकर भी उसकी तृष्णा नहीं मिटती। किसी अप्राप्य को लेकर सौंदर्य अपने भीतर जो वंचना एक बार सुलगा लेता है, वह जिंदगी भर की सेंक बन जाती है जो अभाव में भी उसके माधुर्य की उज्जवलता बनाये रहती है। इस स्निग्ध कवित्वमय सुंदर अनुष्ठान की सीमा नहीं देखी गयी है। निविड़ देही सुख में बैठी विरहिणी आत्मा रूप के मन की इसी विरोधी नीति के व्याकुल आवाह्न-प्रवाह मे बहती जाती है। रवींद्रनाथ के शब्दों में इस 'शरम विह्वल कुसुम रमणी' को किनारा कहाँ मिलेगा—'किनारा कोथाय पावे ?

जीवनभर शांत, तन्मय निमीलित स्वप्न में देखे अलभ्य आस्वादों को, अंधकार में डूबी जीवन-शिखा को बोल-बोल में पुकारना सौंदर्य अपने जन्मसंस्कार के साथ लाता है। कठोर, कटु, यथार्थ और प्राणपूरक कल्पना की अविच्छिन्न लड़ाई लड़ना सौंदर्य होश संभालते ही सीख लेता है। ये उसके भौतिक संस्कार ही हैं—शरीर धर्म है कि सर्वस्व-संकल्प के ध्वंसयज्ञ की अंतिम आहुति बनकर भी सौंदर्य उसी प्रकार अपने अविरल अशांत कालक्रम मे जीता है। अवसान को, मृत्यु को नकारना जीवन का धर्म है और पूंजीभूत पराजय की कालिमा से घिरकर भी सौंदर्य अपनी जीवन धर्मिता नहीं छोड़ता।

अब तक कोई भी हार सौंदर्य को एक उद्धत पर प्रशांतक चुनौती की मतवाली निष्ठा दे देती थी। प्रेम के 'करालपंथ' में यही चुनौती रूप की सबसे बड़ी अक्षय निधि थी। छायावाद ने सौंदर्य जैसे अपने विरोधों से जूझने की सारी पारिवारिक या सामाजिक क्षमता खोकर कल्पना के मात्र मानसिक मिलन के मोमी मोतियों की लड़ियां पिरोने लगा था। छायावाद में सौंदर्य को भावना की सिहरन और देह से परे एक औदात्य तो मिला पर श्रृंगारिक प्रेम की आजन्म परिचित उत्कंठा और उमंग से निष्क्रमण करते हुए। अर्पण की सबसे रंगीन पर दर्शित अनुभूति अब चिर सूनेपन की धरोहर ही नहीं रानी बन गई थी जहां कोई दस्तक न सुनाई देती थी। जहां संयम का कोई तार कभी विश्रृंखलित न होता था—कोई मानसिक या शारीरिक विचलन न आ पाता था। पर न रुकने वाले मन के स्रोत में जो लंगर डाले बैठा था वह कभी दिखायी न देता था। सभी कुछ जैसे एक अथाह प्रवाह की भटकन थी जो बाहर के पानी पानी में व्याप्त हो जाती थी। अपनी तमल्ली को पहचानने वाली और दूसरों को भी वही बाँटने वाली प्रीति की कल्पातर पहचान जैसे खो गई थी।

जिन्होंने यौवन की आकुलता के दिनों मे आशा के पुलकाग्रह के सोने से मढी घड़ियो में रूप को मँड़राते देखा है उसकी कलिका जैसी आलोकमुखी मुद्रा को फूल बनते देखा है वे प्रतीक्षा की बाहों मे शिथिल हो हो जाती उसकी दोशीजगी को भूल नही पाते। सौंदर्य की सारी चेतना तब रोमांचक मधुरता से रिमझिम करने लगती है—

> ऊँचे झरोखन झांकि मकै नहिं
> नैननि लाज घटा घिरकी सी
> पूरन प्रीति हिये थिरकी
> खिरकी खिरकीन फिरै झिरकी-सी

छायावाद में इस 'पूरन प्रीति' का दर्शन, उसका तत्वज्ञान भले रहा हो—उसके उदात्तीकरण की मानसिकता रही हो पर वह 'पूरन प्रीति' ही न थी जो रूप के तन मन के बसंत की सारी मंजरियों की किसी अनछुई, अनदेखी मलयानिल से सींच सींचकर एक बारगी बौरा देती है। जिस लगन भरी प्रीति के आदमकद आइने के सामने खड़ी रूप की किशोरी आवेग-विह्वल हो-होकर अपनी आकृति देखती है—आलोक की लड़ियों से झलझलाती अपनी ही छवि राशि निहारती है पर बीच-बीच में न जाने क्या सोचकर अपने से ही नजर नहीं मिला पाती—उस निर्दोष मुग्धता को वासना की चेष्टा माना जाने लगा था। दर्पण से छलक-छलक उठता अपनी ही आंखों का समर्पित आकर्षण सौंदर्य को भले शंकित कर देता हो किसी अजानी बरसात की बाढ़ उसे बहाकर ले जाती हो पर बदला हुआ 'सुरुचि संस्थापक' सूक्ष्म अतन भावबोध इस कथित ब्रीड़ा को किसी पिटी कामक्रीड़ा से अधिक मानने को तैयार न था।

रूप की सच्ची दैहिक सार्थकता और परितृप्ति जिस सौंदर्य व्यंजनों में पूरी निष्ठा के साथ कामना के रंगीन शिल्प में फूली फली-छायावादी सौंदर्यबोध में उसे अमर्यादित श्रृंगार

और भूखी प्यासी वासनाओं के केलिशयनों के स्थूल चित्र खींचनेवाला अश्लील प्रेरणास्रोत कहा जाने लगा। सूक्ष्म शालीनता के छाया संस्कारों ने, उसकी निःशब्दचारिणी शर्मीली कुंठा ने इस हँसती बोलती शरीरधर्मी चंचलता को विलासलोलुप कह कहर कर उसे हेठा ठहराया। यह बात दूसरी है कि छायावाद के एक शीर्षस्थ कवि पंत अपनी मुग्धा बाल सहचरी के 'अबियों जैसे उकसे शिशु उरोजों' को अपनी कविता में खुलासा करते रहे। पर अपनी भूमिकाओं में वे श्रृंगार काल की सारी मांसलता और शरीरी अनुराग की प्रगाढ़ता को बरदाश्त न कर पाते थे। ऐंद्रिक परितृप्ति और परिपूर्ति का स्वाभाविक मानवीय जीवन तरीका उन्हें अरुचिकर लगता था।

मिलन और विरह की सोंधी जीवनांकुरों से भरी ललक में जिस सरल आत्मा का वास है उसे जीने जागने वाला (खुमारी में ही सही) काव्य-युग जब अपनी सांसे समेट रहा था तब मेरे भीतर छायावादी आकाशी परछाइयों की स्वप्निल काव्यविभा फूट रही थी। पर मेरी सौंदर्य मुग्ध-सृष्टि छायावादी रुमानियत की अवास्तविकता या मात्र आभासात्मकता से इतनी अलग थी कि अपनी जीती जागती कल्पना के रसमूल्यों से सहमकर मैं सोचता था मेरा कवि-चरित्र गुमराह तो नहीं हुआ जा रहा। नारी की उदात्तता उसके मानसी रहने में ही है, किसी प्रकार की शरीरी संवेदना में नहीं-ऐसा मानने को मेरा मन आकारहीन सपनों के उस ज्वारभरे युग में भी तैयार न होता था। क्या मौन अंतरध्वनियां ही सब कुछ हैं, चारों ओर उच्छ्वसित निनादित आवाजें अनसुनी रहने के लिये ही है। स्थूल कह कह कर प्रवृति के रागी सौंदर्य को, उसकी जीवनानुभूतियों को क्यों अवांछनीय कहा जाता है। जबकि जमाना यथार्थों को पहचानने का आ गया था।

छायावाद के दौर में सौंदर्य स्वयं अपने में घटित हुए बदलाव पर, क्षीणतर अतिशय आभ्यंतरिक होते जा रहे स्पर्श-बोध पर कम चकित न था। उसने अभी तक मैदान का फैलाव और खेतों का खुलापन ही जाना था। अब उसका परिचय किसी आभिजात्यपूर्ण 'ड्राइंग रूम' की आधुनिकता से जन्मी बिंबात्मक सुरूचि सुनीति शीलता से हो रहा था जो रेखाओं ही रेखाओं में अपार्थिव निस्पृहा के आग्रह समेटे थी। इस नये चित्रात्मक भावना-लोक में एक ऐसी रहस्यात्मक आकाशोन्मुख असंलग्नता थी, मानवीय दूरी थी जो तन को वर्जित कर अलग अदृश्य मानसिक व्यापारों को ही काव्य का प्रेय और श्रेय मानती थी। जिन संवेदित, वास्तविक आलंबनों को माध्यम बनाकर जीवित मांसलता की आकृतियों से परिचित हुआ जाता था वे सूक्ष्म, वायवीय रूपविधान में ऐसे खो गये कि उनके साथ जीवन का अंगीरस और उसका पार्थिव स्वाद ही जैसे चला गया था।

पर मैं बराबर अनुभव करता था कि सौंदर्य केवल ओस में भीगे देवदारों के नीचे सुनहरी शतरंजियां बिछाने वाली भावुकता ही नहीं है जो इंद्रधनुषी चलचित्र दिखाकर रह जाती हो। सौंदर्य तूफान की हवा में हिलती प्रेम की बाहों में लिपट-लिपट जाने वाली भरी पूरी स्वस्थ हकीकत भी है। मैंने सौंदर्य के प्रतिमानों का बदलना एक बार फिर देखा। जीवन के उस पार ले जाकर किसी निष्काम अगोचर प्रियतम से मिलाने वाली रहस्यमुखी पीड़ा का

स्थान भूमि की मिट्टी के दर्द ने लिया और सौंदर्य और प्रेम दोनों दैहिक स्पृहा की सच्चाइयों में वापस आये। अनंत की ओर बहती प्यास की मुँहजोर नदी फिर शहदीले शरीरों से टकराने लगी। पर इस टकराहट में श्रृंगार के हाड़, मांस, खून तक को छू लेने वाली भावोदीप्त कामना, की एक अंतर्यामिनी शुचिता भी है जैसे दोहोत्सर्ग प्यार किसी नई देवापगा में नहा आया हो—

रख दिये तुमने नजर में बादलों को साधकर
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांह में
बांसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर

(धर्मवीर भारती)

यहां आकर सौंदर्य मंत्रों में बंध जाती दो उम्रों की तरह जिस मंगल मुहूर्त की शुभ्रता समेटे है वह किसी साध्वी के पुन्यप्रताप जैसी लगती है जिसमें वासना की तीव्रता आराधना की सौम्यता में बदल गयी हो। ऐसा कुछ हुआ कि जैसे रीतिकाल का उपभोग प्रवण सौंदर्य छायावाद के मन की पारदर्शिता लिये हुए समर्पण और सहजात विस्मृति के टूटे संदर्भ जोड़ रहा हो। यौवनगंधी, इंद्रियाश्रित सौंदर्य-संवेदना निष्कंप यज्ञवर्तिका बन कर शील और संवरण के छनते आलोक में जैसे फिर जगमगा उठी हो। अपनी खोई मानवीय सार्थकता पाकर सौंदर्य तन और मन किसी से परे न रहकर जैसे अब दोनों का मिलन केंद्र बन गया हो। छायातन अदृश्य आलंबनों के साथ उसका दूरस्थित कल्पना-बिहार खत्म हो चुका हो और उसे फिर मूर्त सत्ता मिली हो। सौंदर्य को रस का सहभोक्ता देह-भाव मिला हो पर जीवन के घनिष्ठतम आशय को खोजता हुआ, रूपोपासना की अमरता के नहीं जीवनकांक्षा की पूर्ति के स्तवन में बांधता हुआ किसी अपूरित वैष्णव स्वर लहरी की प्रशांत उमड़न से सौंदर्य फिर मर्मार्द्र हो उठा। जैसे हरी बांसुरी को वादक के होठों की याद आई हो या निराला की यमुना की तरह 'यौवन की माया सा आया मोहन का सम्मोहन ध्यान' हो।

मानवीय दीप्ति से ज्योतित सौंदर्य में इसके बाद जो परिवर्तन एक बार फिर घटित हुआ उसने तो उसे नग्नता का विशेषज्ञ ही बना दिया है। साहित्य की विभिन्न सर्जना-विधाओं की बात अलग है, आज का पूरा का पूरा सामाजिक और व्यापारिक जीवन नग्न अर्धनग्न विकृतियों, यौवन-आवेदनों (सेक्सअपील) प्रस्तुत-अप्रस्तुत यौन विधानों से भरा है। भाव-छायाओं से आगे बढ़कर जो सौंदर्य छायावादोतर युग में पूरी निर्भीक अकुंठा के साथ प्रसन्न, पार्थिव प्राणभूमि पर उतर कर जीवन के मांसलसत्यों को फिर पहचान चला था उसी की मनोरम गरिमा आज चारों ओर स्थान-भ्रंशित दिखाई देती है। कवि, लेखक, चलचित्र-निर्माता, पत्र-पत्रिकाओं में शरीर की पूरी की पूरी खुली उठानों को उछालनेवाले विज्ञापन और मात्र जननेंद्रियों को ढके अनावृत नारी गात-इन सबने सौंदर्य को संभोग-शयनों का 'माइक्रोफोन' बना दिया है। जो किसी भी प्रकार के गोपन और आवरण पर विश्वास नहीं करता। सौंदर्य

के शीलहरण की यह कागजी प्रक्रिया, अश्लीलता का यह कलाहीन कुरुचिअतिरेक कितना विनाशमूलक है, इसकी ओर सुनीति और सदाचार के—चरित्र की शुद्धता के हिमायतियों का जैसे ध्यान जाता ही नहीं।

पहले सौंदर्य अपने प्रकटन के लिये शरीर की छवियों का मोहताज न रहा हो, ऐसी बात नहीं है। पर सारी शारीरिकता एक सांकेतिक आभा से मुँदी रही थी। तब सौंदर्य एक मूल्य [illegible]—आज वह वाणिज्य की एक कीमत बन गया है, हिसाबी रोकड़ों से निकल कर सीधे दृश्य पट पर आता है। जो अनारोपित सहज मर्यादा सौंदर्य को रागात्मक फैलाव देती थी वह आज उसे एक ''क्रूड'' अनढके शरीर-विज्ञान में बदल चुकी है। महाजनी सभ्यता से आगे निकलकर हम औद्योगिक और व्यवसायी सभ्यता के दौर से गुजर रहे हैं जहां भव्य से भव्य वस्तु 'कमोडिटी' बन जाती है। फिर सौंदर्य ही इसका अपवाद कैसे हो पाता ?

□

कहानी

उफान पर

कुसुम चतुर्वेदी

हर रोज जैसे-जैसे रात बीतती जाती, गौरी के भक्ति-विह्वल कंठ से निःसृत स्वर लहरियाँ और भी अधिक भाव-विभोर, पावन और गहरी श्रद्धा मे डूबी हुई होकर समस्त वातावरण में छायी रहतीं। पूरे बरामदे में दरी और कालीन बिछे हैं। एक सिरे पर तख्त के साथ मेजें जोड़कर, सीढ़ीनुमा जगह बनाकर, ऊपर चादर बिछाकर, देवी-देवताओं के बड़े-बड़े चित्र सजाकर रखे हुए हैं। ठीक बीचोबीच प्रतिष्ठित मुरली मनोहर के चित्र में आभूषणों, मुरली की लटकन और मोरपंखों में लगाया हुआ अबरक चमक रहा है। बेलों और गुलाब के बड़े-बड़े हार चित्रों के ऊपर झूल रहे हैं। मृदंग, मंजीरे, खडतालों, झांझों आदि के बीच कोकिलकण्ठी गौरी के स्वर मे मीरा, सूर, नंददास, कबीर आदि के आत्म-साक्षात्कार की वाणी श्रोताओं को संसार की तुच्छ आसक्तियों से परे, अलौकिकता के प्रवाह में निमज्जित करती रहती है, ''गुंजन के हरवा पहिरौंगी कुंजन मांहि रहौंगी— ।''

उधर उमा सास के साथ खाना-पीना निबटवा कर नहाने चली गई। पसीने से भीगे बालों को नल की धार में भिगोते हुए उसे अपने पति के मुस्कराते चेहरे का बराबर ध्यान आता रहा। पहली बार तीन दिन यहाँ रहकर लौट गई थी। तब भी यही क्रम था। काफी रात बीते बरामदे से सटे एक छोटे से कमरे में, दबे-दबे कंठ से रामदास और उमा के बीच गिनी-चुनी बातें हो सकी थीं। बड़े आध्यात्मिक हैं सभी। ससुर मुँह अंधेरे ठण्डे पानी से नहाकर पूजागृह में जा बैठते हैं। विनय-पत्रिका के गलदश्रु पदों को सुनकर उमा की आँखें खुल जातीं। आँखें खोलते ही सामने रखी कृष्ण की मूर्ति दृष्टिगत होती। मंद-मंद मुस्कराती, मुरलिका होंठों पर टिकाये, त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी यह मूर्ति ऐसी प्रतीत होती है मानो अभी तान छेड़ उठेगी। कैसा श्रेष्ठ संस्कारी है समस्त परिवार! सोये हुए पति के मुँह पर दृष्टि डालकर उमा एक भरपूर तृप्ति में डूब गई थी। सांवला रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, माथे पर बिखरे ढेर के ढेर काले बाल। नाम पुराने ढंग का अवश्य है। स्वयं रामदास कह रहा था, ''बाबूजी ने अपनी भक्तिभावना के कारण हम भाइयों के ऐसे नाम रखे हैं—रामदास और कृष्णदास। यूनिवर्सिटी में बड़ा बेतुका-सा लगता था अतः आर.डी. शंकर लिखकर मैंने नाम का आधुनिकीकरण कर लिया था। घर में जब सब लोग रामदास कहकर आवाज लगाते हैं, तब रामदास परचूनिये की आकृति अनायास उभरती है, मैली धोती में से झांकती तोंद, घमौरियों से भरी पीठ, लसदार पीले दांत— । कॉलेज में रामदास नाम का नाई रोज हॉस्टल में लड़कों की हजामत वगैरह के लिए आता था, रामदास हलवाई था, ढाबे वाला

रामदास था, परंतु मेरी आयु का कोई लड़का नहीं था जो रामदास या धर्मदास होता— ।" रामदास ने दुखी होते हुए उमा को बताया।

उमा हँसने लगी, "बाबूजी यह एक नए अष्टछाप की स्थापना करने के चक्कर में होंगे— ।"

रामदास ने उमा के चमकीले दांतों से सजे मुख को मुग्धभाव से देखा—परंतु उसकी कल्पना में आ रहा था पिता द्वारा उसके बच्चों के नामकरण में देवीदास, भगवानदास, चतुर्भुजदास जैसे नामों को रखने का आग्रह। मन की बात उमा को बताकर वह अनमना-सा बैठा रहा।

घर-भर संगीत में पारंगत है। छः-सात वर्ष का होते ही बच्चों को गुरुचरणों में संगीत की शिक्षा लेने बैठा दिया जाता है। संगीत में सर्वाधिक निष्णात् गौरी दीदी ही हो पाई हैं। गाती हैं तो भक्ति, तन्मयता और समर्पण की त्रिवेणी में मन डूब-सा जाता है। स्वामी कैवल्यानंद जी महाराज ने जन्मरोगिणी गौरी को मृत्युशैया पर से अपनी शरण में लेकर, जिला दिया था। सभी डॉक्टर जवाब दे चुके थे। स्वामी जी बराबर के कमरे में श्रीमद्भागवत का अखण्ड पाठ जमाए, निर्जल-निराहार बैठे अपनी पुत्री-तुल्या शिष्या की प्राणभिक्षा मांगते रहे थे— । तब गौरी बारह वर्ष की थी।

खूब गोरी, पीली, पतली, लंबी गर्दन और झुके-झुके कंधों वाली गौरी को घर के काम-धंधों से कुछ लेना-देना नहीं रहता। गुरुजी उन्हें भगवत्सेवा का आदेश दे गए हैं, "ये अब तुम्हारी गौरी नहीं। ये तो परम प्रभु की कीर्ति-सुगंधि है जो चारो ओर महकेगी— ।"

पंद्रह वर्षीया गौरी को एक दिन दौरा पड़ा तो पिताजी आँखें मूंदे, गोविंद माधव, राधेश्याम—गाते रहे। जिस परम विरहासक्ति के लिए बड़े-बड़े साधक तरसते हैं, उसी में खोयी है उनकी लाड़ली। गौरी में उस दिन न जाने कहाँ से इतना बल आ गया था। घण्टों फूट-फूट कर रोती रही, प्रलाप करती रही, "मेरा कौन है? मैं किसके सहारे जिऊँगी मेरा सहारा ? मेरा कृष्ण कन्हैया— ?"

बहिन को सभालते हुए, बड़े स्नेह से उसके दोनो हाथ थामकर रामदास ने शपथ खाई, "गौरी दीदी तुम मेरे साथ सदैव रहोगी, पूरे सम्मान और अधिकार के साथ। कभी तुम्हारी आराधना में मेरे रहते कोई रूकावट नहीं हो पाएगी— ।"

पिता पूजापाठ के चक्कर में अपना काम-धाम छोड़ बैठे हैं। वे ग्राहकों के सामने तिलक-मुद्रा लगाए, हाथ में गोमुखी लटकाए पहुँच जाते हैं। जीवन की निस्सारता एक व्यापारी के मुख से कौन सुनना चाहता है? ऊबे हुए ग्राहक कन्नी काटकर साफ हो जाते हैं। रामदास शीघ्र कहीं नौकर होकर गौरी का भार संभाल लें तो वे एक बड़े दायित्व से मुक्त हो जाएंगे। इंजेक्शनों के कोर्स, फल, टॉनिक आदि—सदा चलता रहने वाला भारी व्यय उनसे अब संभल नहीं पा रहा है।

उमा के कमरे में भी चारों ओर धार्मिक चित्र टंगे हैं। बाहर की ओर खुलने वाली खिड़की के पास उमा ने शकुंतला के चित्रवाला कलेंडर टांग दिया था। नदी के जल में

पड़े पत्थरों पर पांव दिए बैठी भरपूर यौवना, प्रिय-स्मृति-विह्वला शकुंतला! गौरी सुबह की आरती कमरों में फिराने आई तो कलेंडर को तोड़-मरोड़कर सीखचों के बाहर पटकती गई। इन्हीं सीखचों की राह रात के समय बरामदे में जलती धूप, अगरबत्ती आदि की महक कमरे में घुस आती है साथ ही गौरी का सधा हुआ स्वर भी जो समगति के कीर्तन की सतरें दोहराता-तिहराता, दुगना-तिगुना होता क्रमशः द्रुतलय पकड़ लेता है। स्वर को पकड़ने को तेजी से वाद्य बजते रहते हैं और अन्य व्यक्तियों के मिले-जुले स्वर आते-जाते रहते हैं।

गौरी के हरि कीर्त्तन मे आस-पास के लोग श्रद्धावत होकर खिंचे चले आते हैं। कलियुगी मीरा पैदा हुई है। चिरकुमारिका है। बचपन से ही प्रभु को वरण किए बैठी है। चेहरा तो देखो भक्ति के आलोक से कैसा जगमगाता हुआ रहता है।

नहा-धो कर उमा ने औरेंज बार्डर की हल्की हरी साडी पहनी। बार्डर के बीच घिरा उमा का सुंदर मुख और भी सज उठा। आँखें और बड़ी-बड़ी दिखने लगीं। सोचा बालों को तकिये से पीछे लटका पंखा चलाकर लेट जाएगी। रामदास को उसके घुंघराले बालो मे उंगलियाँ फंसाकर खेलना बहुत प्रिय है। उमा उससे हॉस्टल के हाल-चाल पूछेगी। हॉस्टल मे रामदास के साथ रहे उमा के चचेरे भाई ने उसे बहुत कुछ बता रखा था। सुना था कि रामदास बड़ी सुंदर गजलें गाता है।

रामदास पलंग को सरकाकर खिड़की से सटा रहा था, "पखा तो गौरी दीदी ने मंगा लिया है, कीर्तन में बैठे लोगों के लिए— ।"

कमीज-बनियान उतारे गर्मी से बचने मे व्यग्र रामदास को देखकर उमा का मन खट्टा हो गया। मन किया कि अभी सीधी जाकर टेबिल फैन उठा लाए। जून का महीना, छोटा सा कमरा और पास ही बरामदे में उठता शोरगुल। बड़ी बेचैनी-सी अनुभव हो रही थी। किंतु भजन-पूजन में वह व्याघात कैसे डाले? पखा भले ही उसके दहेज में मिला हुआ है पर नई बहू कैसे कुछ कह सकती है ?"

रामदास ने नहा-धोकर तरोताजा होकर आई अपनी पत्नी को बाहों में खींचा तो उमा की ठंडी-ठंडी बाहें उसकी पसीने से भीगी बाहों में चिपचिपा उठीं, "औफ्फोह तुम नहाए नहीं हो शायद ?" वह पीछे हट गई।

कुर्सी के पीछे टंगा तौलिया उतार कर रामदास ने पेट, पीठ, गर्दन आदि का पसीना पोंछा। उमा को गीले बालों से ढकी अपनी पीठ में चुनचुनाहट-सी प्रतीत होने लगी। एक पखा भी कमरे में नहीं रहने दे सकते? बरामदा तो वैसे भी खुला हुआ है। एक पखा गौरी दीदी की ओर चल ही रहा था, अस्वस्थ जो ठहरीं। अस्वस्थ हैं, तो आराम करें आधी रात तक चीख-चीख कर भजन गाने की सलाह किस डॉक्टर ने दे रखी है ?

रामदास ने लाइट ऑफ करके उमा को समीप खींच लिया। कमरे में कीर्तन की द्रुतलय अभी भी चल रही थी, खिड़की से दिखते दृश्य में सफेद चादर पर दीवार के सहारे टिका कर रखे गए देवताओं के मनोरम चित्र फूलों के ढेर के बीच जलता चौमुखा दीपक ऊपर से गौरी की भाव डूबी गदगद आवाज़— ।"

रामदास की कसी हुई बाहें अनायास ढीली पड़ गई। सुगंधित साबुन से महकती उमा की देह जैसे दिन भर के काम से श्लथ हो उठीं, "उफ बेहद गर्मी है" पाटी पर एक ओर को खिसकते हुई उमा ने रामदास का हाथ अपने ऊपर से हटा दिया, "बड़ी गर्मी है जरा उधर को हो जाओ।"

प्रातः आँख खुलते ही उमा को बाबूजी के गीत सुन पड़े। रामदास अभी सो रहा था। चाय बनाने से पूर्व सामूहिक प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए उसे भी जागना होगा। शीतलपाटी पर सारा कुटुंब पिताजी के मुँह से निकली प्रार्थनाओं को दोहराता रहेगा, तब चाय-नाश्ते की ओर उन्मुख हुआ जा सकेगा। सबके बीच बैठी उबासियाँ लेती उमा को गर्म चाय का प्याला याद आता रहता। नित्य का यह कार्यक्रम समाप्त करके सब उठेंगे, तब तक उमा की चाय की इच्छा समाप्त हो चुकी होगी। अपनी आदत के अनुसार सब नाश्ता करके अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हो जाएंगे।

उमा ने ननदें देखी थी, जो भाभी से मजाक करती थीं, भैया का नाम लेकर मीठी ठिठोलियाँ करती या भाभी के मायके वालों पर चुटकियाँ लेतीं। यहाँ सुबह से शाम तक पुजारिन जी का शिक्षाप्रद वक्तव्य शुरू हुआ रहता है। माना विवाह की उम्र पीछे छोड़ आई, पर ऐसी बड़ी-बूढ़ी तो नहीं हो गई, जो हर समय सीख देती रहें। "बहूरानी आप यह पहन लीजिए, आज तो आप साक्षात् राधिका लग रही हैं लीजिए इसी साड़ी को पहने-पहने ठाकुर जी को माथा झुका आइए— ।

उमा कुढ़ती—ये गौरी दीदी दिन भर फालतू कामों में लगी रहती हैं। अच्छी-भली इण्टर हैं, संगीत-विशारद भी हैं, किसी स्कूल में टीचर हो सकती थीं। पर यह मुफ्तखोरी? उमा ने दांतों तले जीभ दबा ली। ऐसी देवी स्वरूपा ननद के लिए क्या-क्या दुर्विचार मन में ला रही हैं। दूर-दूर से लोग आकर साष्टांग करते हैं, प्रवचन सुनते हैं। लोग सोचते हैं इनका आशीर्वाद संपूर्ण अमंगलों को नष्ट करने वाला है। ऐसा संयम कि यौवन से अनभिज्ञ रही।

उमा को गौरी का पीला, पतला, सुता हुआ-सा लंबोतरा चेहरा और सिर के हल्के बाल ध्यान में आ गए। यौवन-सरिता में साथ बहा ले जाने वाला भी तो कोई चाहिए था।

पहले कदाचित् अच्छी लगती होंगी। पर कब? कहते हैं बचपन से ही बीमार रही चली आती है। बारह वर्ष का आयु से तो दवाओं और इंजेक्शनों के बल पर जी रही है। पिता डाक्टरों का घर भरते-भरते साधु-महात्माओं के चमत्कारों की शरण में जाकर अध्यात्म में खो गये। कच्चे उम्र की गौरी पर भी भक्ति का प्रभाव पड़ गया। "अरे! उमा रानी आप अभी ऐसी ही बैठी हैं? उठिए, कुछ काम में लगिए। अकर्मण्यता प्रभु से दूर ले जाने वाला अवगुण है। जाइए नहा-धोकर थोड़ी देर ठाकुर जी की सेवा में रमिए— ।" उमा ने देखा गौरी नहा-धोकर बाल फैलाए सामने खड़ी उससे कह रही थी।

उमा की सुनहली रात एक टेबिल फैन के बिना सौतन बनी। अभी भी गीलेबालों को तकिये पर बिखरा कर पंखे की हवा में न सुखा पाने का आक्रोश उमा के मन में है। उमा

ने सोचा कह दे, "तुम्हीं जाओ पुजारिन जी, माथे पर चंदन-रोली रचा, पंखा चलाकर, प्रभु के नाम पर काम-धाम से बचो, चैन की उड़ाओ— ।"

परंतु कल उसने जरा-सा गौरी दीदी के पंखा मंगा लेने के विरुद्ध कुछ कहना चाहा था, तो रामदास ने उसे घूरकर देखा था। बहिन का ऐसा भी क्या प्रभुत्व? वह भी आखिर अपना भरा-पूरा परिवार छोड़कर इन्हीं लोगों के सहारे यहाँ आ गई है। इतने दिनों बाद मायके से लौटी थी। रामदास क्या पंखे के लिए मना नहीं कर सकता था ? पंखा लेने आने वाले से यह तो कहा था, "दीदी के सामने मत कहना कि मैं भीतर हूँ।" इससे अच्छा तो यही होता कि रामदास कीर्त्तन में चला जाता और तालियाँ पीट-पीट कर भजन गाता रहता।

उमा की सहेलियाँ विवाहोपरांत के कैसे-कैसे रोचक प्रसंग सुनाया करती थीं जिन्हें सुनकर उमा के क्वारे शरीर में एक अजब उष्मा तैर जाती थी। उसने कल्पना की थी कि दोनों कश्मीर चले जाएंगे। फूलों, बैलूनों, रंग-बिरंगी झंडियों आदि से सजे कमरे में प्रथम मिलन होगा और उमा के रूप के बखान कई-कई रात दोहराये जाते रहेंगे। नायक-नायिका के मध्यघटित सभी रसमय प्रसंग उमा के जीवन में भी आएंगे। रामदास योग्य है, आकर्षक है, मृदुभाषी भी, परंतु जीने के लिए अवकाश किसके पास है?

उमा को सुबह पूजाघर धो-पोंछकर, पूजा के बर्तनों को चमकाकर चौकी पर सजाना पड़ता है। थाली में रोली, अक्षत, धूपदीप सभी कुछ प्रस्तुत करना भी उसी का काम है। सुबह प्रार्थना, दोपहर भोग, संध्या-आरती और रात्रि को शयन से पूर्व नियमित हरिकीर्त्तन। वृंदावन में कुटिया बनवाकर क्यों नहीं रहने लग जाती? उमा के मन में यह वहम दृढ़तर होता जा रहा है कि उसके और रामदास के संपर्क में आने वाली मादकता इस धार्मिकता के अतिरेक में घुट जाती है। उमा के भीतर-भीतर दुख, क्षोभ, रोष, क्रोध न जाने क्या-क्या मिलकर उमड़ता रहता है।

उसका मन करता है कि पति-पत्नी दोनों कभी सिनेमा में पास-पास कुर्सियों पर बाँह पर बाँह धर कर जा बैठें। किसी रेस्तराँ में जाकर आइसक्रीम लें। घर में अविवाहिता भक्तिन बहिन मौजूद हो तो भाई ऐश उड़ाता कैसे घूमे? लोग क्या कहेंगे? दिन भर काम में घिसो या पुजारिन बाई के उपदेश सुनो, "अब आप बाल काढ़ आइए—" "नई चूड़ियाँ पहनिए"—"भगवान के पांव छू लीजिए।"

तब तो और भी असह्य हो उठा जब गौरी ने उमा के मुख से सुने, "सुर की गति मैं क्या जानूँ," 'गीत पर मुग्ध' होकर उसे कीर्त्तन में बुला भेजा। श्रोताओं की भीड़ में फंसी बैठी उमा तस्वीरों पर अनर्थक निगाह फिराती रही। समा बंध रहा है, बीच में से उठ भी नहीं सकती, रामदास की नींद से बोझिल आँखें उसकी प्रतीक्षा करते-करते, स्वप्नों में खो गई होंगी। ऐसा भक्ति का स्रोत, संसार के विषय भोग सब झूठ हैं, मिट्टी का पुतला है यह इंन्सान—धुएं के धौरहर सा समस्त जीवन—तो समस्त अभिशप्त—?"

दो महीनों से यह सब कुछ देख सुन कर भी उमा की जुबान पर ताला लगा रहा। आवाज तनिक उठानी चाही, तो रामदास ने स्पष्ट रूप में धमकाया, "देखो अच्छी तरह

रहो, खेलो खाओ, मौज करो। अपनी बहन के लिए एक शब्द सुनने को भी मैं तैयार नहीं।''

''खेलूँ खाऊँ क्या खाक? क्यों न मैं भी तुम्हारे नाम को रोकर फकीरी बाना धारण कर लूँ—।'' ऐसे जले-कटे वाक्य उमा के होठों से उगलते-उगलते रह जाते हैं एक अन-बुझे दाह में उसकी सारी देह सुलगती रही। कभी-कभी तीव्राकांक्षा ऐसी होती है कि इन सारे धार्मिक गीतों आदि को रूकवाकर फुलस्पीड पर रेडियो सीलोन लगाकर पाश्चात्य थिरकती— बिखरती धुनों में बहते फिल्मी गीत सुने। पत्थर के कृष्ण-राधा की प्रणय-लीलाओं पर पागल न होकर वे दोनों पति-पत्नी स्वयं प्रेमप्रवाह में डूबते-उतराते सचमुच के राधा-कृष्ण क्यों न बन जाएं? एक प्राण दो देह वाले पलकांतर वियोग में जहाँ राधा मूर्च्छित हो भूमि-पतिता हो जाती है, तो कभी कृष्णमय हो अपना नाम आप ही पुकार-पुकार कर अधीर हो उठती है।

रसोईघर में बैठी उमा उफन-उफन कर किनारों तक आये दूध पर पानी के छींटे देती रहती है और देखती है कि सनसनाहट की आवाज के साथ किनारे अलांघ कर बहने को तत्पर उफान तल में बैठ जाता है। उमा का मन करता है घुटनों में से सिर निकाल, यहीं बैठे-बैठे चिचियाकर एक आवाज़ लगाए, ''गौरी ओ गौरी की बच्ची, जरा यहाँ आकर आटा सान दे, क्या ढोंग फैलाए बैठी है।''

सारा नगर इस अध्यात्म-सरणि में धँसने को पागल है। गौरी के विरूद्ध कभी कुछ कहने सुनने का साहस उमा नहीं जुटा पाती। परंतु एक दिन विस्फोट होकर ही रहेगा, ऐसी संभावना उसे बराबर बनी रहती है। अपने गीले बालों को प्रियतम की बाह पर फैलाकर सुखाने की आकांक्षा लिए वह कमरे में पांव धरते ही जिस दिन सुनेगी, ''आज पंखा फिर गौरी दीदी ने मंगवा लिया है'' तो बिना परिणाम की चिंता किए उसके शब्दों का लावा फूट निकलेगा, ''मुझे मेरे मायके पहुँचा दो। मैं यहाँ हर्गिज नहीं रह सकती। यहाँ मैं रहूँगी या यह रहेगी।''

किंतु ऐसा कुछ नहीं होता। घुटनों में सिर दिए बैठी उमा उफन-उफन कर किनारे आए हुए दूध के उबाल को ठण्डे पानी के छीटें देती रहती है। □

फूलबाग में

बलराम

फूलबाग के एक कोने मे बैठक होने वाली थी। देवदत्त उसमे शामिल होने के लिए व्याकुल था। पिता आश्वासन दे गए थे कि वह उसे अपने साथ फूलबाग ले चलेगे और चाइना सिल्क का सूट सिला देगे, लेकिन देवदत्त उनके साथ जाना नहीं चाहता था, क्योंकि तब वह उस बैठक मे शामिल नहीं हो सकता था। उसकी इच्छा थी कि जल्दी से जल्दी होम वर्क पूरा हो जाए तो वह उनके आने से पहले ही घर से निकल कर फूलबाग पहुच जाए और उस बैठक में शामिल हो ले।

अपनी मां को लक्ष्य कर उसने कहा, "अम्मा, आज पिताजी ने फूलबाग जाने की इजाजत दे दी है। थोड़ा लिखना और शेष रह गया है, उसे समाप्त करके चला जाऊंगा।"

मां की चुप्पी से उसका ध्यान उनकी ओर गया। उनकी गंभीरता देखकर वह डरा कि अब कहीं वे उसे जाने मे न रोक दे। उसने उनसे पूछा, "चुप क्यों हो अम्मा, क्या तबीयत खराब है?"

"तबीयत नहीं, मन खराब है।"

"मन ... "

'हां मन, मेरा मन खराब है।"

"मन क्यों खराब है? क्या पिताजी ने कुछ कहा?"

"पिता और पुत्र के बीच पड़कर मै " आगे वे कुछ बोल न सकी उनका गला भर आया।

"मैंने तुम्हें कोई दुख दिया है अम्मा?"

"नहीं, लेकिन यह बता कि तू मुझे कितना प्यार करता है?" प्रश्न की अस्वाभाविकता ने उसे चौंका दिया। वह उनका मुह निहारने लगा। फिर बोला, "यह कैसा विचित्र सवाल कर रही हो अम्मा।"

यह विचित्र सवाल जानबूझकर कर रही हू। बता, यह पत्र तुझे किसने लिखा है।" कहते हुए उन्होंने एक पत्र निकालकर उसके सामने रख दिया।

पत्र देखते ही वह पहचान गया कि यह तो वही पत्र है, जो कुछ दिन पहले खो गया था, जिसको ढूंढ़ने की उसने बहुत चेष्टा की, मगर नहीं मिला था। वह एक ऐसा पत्र था, जिसमें गुप्त समितियां बनाकर अंग्रेजों से भारत को स्वतंत्र कराने तथा रूपया इकट्ठा कर अस्त्र-शस्त्र खरीदने की बातें लिखी गयीं थीं। स्कूली छात्रों को भड़काकर क्रांतिकारी बनने का परामर्श दिया गया था और पत्र लिखनेवाला गुमनाम था। पत्र देखकर उसके चेहरे का रंग उड़ गया। बात बनाते हुए उसने कहा, "अरे, यह कुछ नहीं है। मुझे नहीं मालूम

कि इसको लिखने वाला कौन है?''

''लिखनेवाले के नाम से मुझे कोई मतलब नहीं। इसको पढ़कर सुना कि इसमें क्या लिखा है। तूने क्या मुझे घुला-घुलाकर मार डालने की कसम खा रखी है। क्या करूं, ईश्वर ने भी मुझसे मुंह मोड़ लिया है। रात-दिन मनाया करती हूं कि 'हे ईश्वर, मुझे उठा ले और इन झंझटों से छुटकारा दिला', लेकिन वह भी नहीं सुनता।'' कहते-कहते वह रोने लगीं।

[illegible] दुविधा में पड़ गया। चिट्ठी का भेद बता नहीं सकता था और मां का बिलखना भी देख नहीं सकता था। लिखना छोड़कर वह उनके पास सरक आया और उनके गले लगते हुए बोला, ''अम्मा, तुम रोओ नहीं। मैं वह कुछ नहीं करूंगा, जो इस चिट्ठी में लिखा है। ऐसी चिट्ठियां बहुतों के पास आयी हैं। मेरा इससे कोई लेना-देना नहीं है।''

''तू मुझे बहला मत। चिट्ठियां उन्हीं के पास आती हैं, जिनसे कुछ लेना-देना होता है। भैया, तुम ये क्या गड़बड़ करने जा रहे हो। गोरों से लड़कर भला कौन जीत सकता है, उनका सातों समंदरों पर कब्जा है।''

''गोरों से लड़ने कौन जा रहा है अम्मा, तुम तो बिना मतलब तिल का ताड़ बना रही हो।''

''यह क्यों नहीं कहता कि तू ताड़ का तिल बना रहा है। तेरी मौसी ने तेरे कमरे की तलाशी ली तो तेरे पास से ऐसी कई किताबें और अखबार निकले, जिनका घर में रखना ही जुर्म है। बता, ये सब कहां से लाता है तू। अगर ये चीजें तेरे पिता के हाथ पड़ जातीं तो सोच, वे तेरी क्या गत बनाते? थोड़े दिन और जिंदगी है, तब तक ठीक से रह ले। मेरे मरने के बाद जो चाहे, करना। मैं देखने और मना करने नहीं आऊंगी।'' कहकर वह फिर रोने लगीं।

''अम्मा, तुम रो नहीं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि अब मैं वैसा-ऐसा कुछ नहीं करुंगा। सच्ची बात तो यह है अम्मा कि मौसी और तुम्हारे द्वारा सुनाई गयी कहानियों से मेरे मन में गोरों के प्रति घृणा पैदा गयी है। इन गोरों ने ही तो हमारी जागीर, धन-दौलत और इज्जत-आबरू, सब मटियामेट कर दी। इन्होंने अभी हाल में अमृतसर के जलियांवाला बाग में हजारों निहत्थे नर-नारियों और बच्चों को गोलियों से भून दिया। अम्मा, तुम पढ़ी-लिखी नहीं हो, इसलिए उनके जुल्मों की पूरी कहानी नहीं जानतीं। अखबारों में जो कुछ लिखा गया है, उससे हजार गुना ज्यादा जुल्म उन लोगों ने ढाए हैं। मेरे दर्जे के एक लड़के का दोस्त उस दिन अमृतसर में ही था। उसने जो दर्दनाक हाल लिखकर भेजा है, सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।''

''ठीक है। मैं सब मानती हूं, लेकिन गोरे उनको ही सताते हैं, जो उनका हुक्म नहीं मानते या फिर उन्हें, जो तुम्हारी तरह उनसे लड़ने की बात सोचते हैं।''

''अम्मा, यह मुल्क हमारा है। उन्होंने छल, बल और कौशल से भाई को भाई से लड़ाकर इतना बड़ा मुल्क हथिया लिया। उनसे लड़ाई तो चल ही रही है। वे लोग हमारे नेताओं को जेल में बंद करते हैं, उन्हें देश निकाला देते हैं, काले पानी भेजते हैं, तोपों से उड़वाते हैं, उनके जुल्मों में कोई कमी नहीं आती। हमारी जमीन पर कब्जा किए बैठे हैं

और हमें लूट-लूटकर अपना घर भर रहे हैं। यह अंधेरगर्दी अब नहीं चलेगी। देश की आजादी के लिए लड़ने के सिवा अब कोई रास्ता नहीं है अम्मा।''

''एक अकेले तूने ही देश की आजादी का ठेका ले रखा है क्या?''

''मैं ही क्यों, आज का हर युवक यही सोच रहा है।''

''मुंह से दूध की गंध तो अभी गयी नहीं, और अपने को युवक समझकर अंग्रेजो से लड़ने जा रहा है।''

''अभी लड़ने कहां जा रहा, तैयारी कर रहा हूं।''

तुझे कोई तैयारी नहीं करनी। तुझे मेरी कसम है, जो इन कामों में कभी हिस्सा लिया। गोरों से लड़ने से पहले तेरे पिता ही तेरी खाल खींच कर रख देंगे। उन्हे इन बातों की खबर लग भर गयी तो फिर देखना। हम लोग तेरे ऊपर न जाने क्या-क्या आशाएं लगाये बैठे हैं, तेरे लिए कैसे-कैसे सपने देख रहे हैं, और तू है कि हमारे सपनों को खाक मे मिलाने चला है।''

देवदत्त एकदम चुप। और चुप और चुप। उसे चुप देखकर उन्होंने कठोर स्वर में पूछा, ''बोल, इन कामों को छोड़ेगा कि नहीं?''

''मैं कोई काम करता ही कहां हूं, जो छोड़ दूं।''

''मुझे बहलाता है। मुझे पकड़कर मेरी कसम खा कि इन बदमाशों का साथ छोड़ देगा और ऐसा कोई काम नहीं करेगा, जो सरकार के खिलाफ हो।''

खामोश देवदत्त सोचने लगा कि मां से क्या कहे। तभी मां ने फिर कठोर स्वर में पूछा, 'कसम नहीं खाएगा?''

''अम्मा, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि मैं इन सब कामों से अलग रहूंगा।''

''मैं ऐसे नहीं मानूंगी। मुझे पकड़कर मेरी कसम खा।''

इतने में सुमन मौसी आ गयीं। उसने कुपित दृष्टि से उनकी ओर देखा और पूछा, ''मौसी, तुमने यहां आग क्यों लगायी?''

''छिप-छिपकर गैरकानूनी हरकतें करता है और कहता है कि आग लगाई। अरे, तू खुद आग से खेलने जा रहा था। भगवान की कृपा से तेरा भंडा फूट गया, नहीं तो हम लोग कहीं के न रहते। तीन पीढ़ियों से हम लोग अंग्रेजों की दी यातनाएं भोग रहे हैं। तेरे पिता तुझे बड़ा आदमी बनाने के लिए न जाने क्या-क्या कर रहे हैं। खुद न खाकर तुझे खिलाते हैं, खुद मोटा पहनकर तुझे राजसी ठाट-बाट से रखते हैं, हम दोनों तेरी खैर की दुआएं मांग-मांग कर अपनी जबानें घिस रही हैं, और तुझे सूझी है अंग्रेजी से लड़ाई। शाम को तेरे ये कागज जीजाजी के सामने रखूंगी, तब देखना, तेरी क्या गत बनती है।''

मौसी की यह धमकी सुनकर देव तो घबराया ही, उससे ज्यादा उसकी मां घबरा गयीं और बहन से बोली, ''नहीं सुमन, भूलकर भी ऐसा नहीं करना, वरना वे इसे अधमरा कर देंगे।''

''फिर यह कसम खाकर सच्चे दिल से कहे कि अपने को सारे कामों से अलग रखेगा।''

"देव, अपनी मौसी को भरोसा दिला।"

"अम्मा, मैं सच्चे दिल से कहता हूं कि मैंने अभी तक कोई गलत काम नहीं किया है और वादा करता हूं कि आगे भी नहीं करूंगा।"

"मैं मानती हूं कि मेरा लाल मुझे कोई धोखा नहीं देगा, लेकिन कसम खा लेने से हम दोनों को तसल्ली हो जाएगी।"

' अम्मा, कसम न खिलाओ। तुम इस दुनिया में मुझे सबसे ज्यादा प्यारी हो। मैं ईश्वर की कसम खा सकता हूं, दुनिया भर के लोगों की कसम खा सकता हूं, मगर तुम्हारी कसम खाने की हिम्मत नहीं है। भूल से भी कोई गलती हो गयी तो अम्मा, मैं तुम्हें मुंह दिखाने लायक नहीं रहूंगा।" कहते-कहते वह रोने लगा तो आंखों से इशारा कर दोनों बहनों ने इस प्रसंग को यही समाप्त करने का निर्णय लिया। मौसी ने उठकर देव का हाथ पकड़ लिया और कहा, "अच्छा रहने दे, कसम मतखा, मगर हमे विश्वास दिला कि अंग्रेजों के खिलाफ कभी कोई साजिश नहीं करेगा और साजिश करने वालों से हमेशा दूर रहेगा।"

"हां मौसी, मैं आप दोनों से वादा करता हूं कि अब कभी गोरों के खिलाफ किसी साजिश में हिस्सा नहीं लूंगा।" देवदत्त ने कहा तो उसकी मां से उसे चूमते हुए कहा, "बेटे, तुम हमारे घर के अकेले चिराग हो। अगर कहीं किसी जिल्लत मे फंस गए या फंसा दिए गए तो सोचो, हमारा क्या होगा?"

"अम्मा, मैं हरगिज उस काम में हाथ न डालूंगा, जिससे तुम्हे दुख हो। तुम्हारे आंसू देखकर दिल में न जाने कैसी हूक उठ रही है।"

"समझ लो बेटे, ऐसी ही हूक हमारे दिल मे उठती है जब तुम राह से कुराह जाने की कोशिश करते हो।" मौसी ने मुस्कराते हुए कहा।

"अच्छा जाओ, फूलबाग जाने को कह रहे थे, घूम आओ, जी हल्का हो जाएगा।" मां ने जाने की आज्ञा दे दी।

"अब कहीं नहीं जाऊंगा, इतनी जल्दी वादा नहीं तोड़ूंगा।"

तो क्या इस बहाने तू उन लोगों के पास जा रहा था, जो तुझे बरगलाते हैं।"

"अब तुमसे कुछ न छिपाऊंगा अम्मा, फूलबाग के एक कोने में आज मेरे कई साथी मिलने वाले थे और रूपया इकट्ठा कर अंग्रेजो की खिलाफत करने की तरकीबें सोची जाने वाली थी।"

"तब तू मत जा। जाकर लेट और कुछ देर आराम क[illegible]। मैंने तुझे बहुत सताया।"

"अभी पिताजी का दिया काम बाकी है। पहले उसे पूरा कर लूं।"

"नहीं, मेरे साथ मेरे कमरे मे चल और आराम कर। मैं उनसे कह दूंगी कि देव की तबीयत खराब हो जाने से वह आपका दिया काम पूरा नहीं कर सका।"

तुम झूठ बोलोगी।"

नहीं, देव, तेरी मानसिक स्थिति सचमुच ठीक नहीं है। मैं सब सभाल लूंगी। कहकर मां उसे अपने साथ ले गयीं और मौसी ने उसकी किताबें [illegible] कर रख दीं।

देवदत्त के सामने विकट समस्या आ खड़ी हुई। अपनी उस मंडली का नेतृत्व वही कर रहा था। उसी ने अपने सहपाठियों के मन में क्रांतिकारी भावनाएं भरी थीं। जो लोग उसकी बात न सुनते या उससे उल्टा विचार रखते, वह उनको कायर कहने में कोई संकोच नहीं करता। किसी को कलेक्टर, किसी को लेफ्टीनेंट गर्वनर तो किसी को अंग्रेजों का गुलाम कहकर उनका मजाक उड़ाता, किंतु अभी भावावेश में मां और मौसी से जो वादा कर गया, उसे भी तो निभाना है। उसे यही चिंता खाने लगी कि अब वह करे भी तो क्या करे। इधर मां और मौसी का स्नेह और उधर आत्मा की पुकार। अपनी मां की ममता से वह परिचित था। कभी-कभी वह महसूस करता कि पिताजी की मार से जितना पीड़ित वह होता है, उससे कहीं ज्यादा उसकी मां पीड़ित होती हैं। यह बात समझ में आने पर वह प्रयत्न करने लगा कि ऐसे मौके कम से कम आयें, जिससे पिता को क्रोध आये और उसकी मां को पीड़ित होना पड़े। उसकी स्वाभाविक चंचलता छूट गयी थी। अब वह अपना समय पुस्तकें पढ़ने में लगाता। कहानियां सुनने का शौक उसे बचपन से ही था और जब उसे पढ़ना-लिखना आ गया तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियां पढ़ने लगा। मोहल्ले के घरो से पत्र-पत्रिकाएं मांग लाता और उन्हें मनोयोग से पढ़ता। रामायण का पाठ पिता की आज्ञानुसार उसे रोज करना पड़ता और जब उसकी मां और मौसी खाली होतीं तो वे भी उससे पढ़वाकर रामायण सुना करतीं। इसी बीच पड़ोस के एक मास्टर साहब के यहां उसे महाभारत मिल गयी। मास्टर साहब की पत्नी उसे बेटे की तरह प्यार करतीं। वह भी उनके साथ अपनी मां के समान ही व्यवहार करता। जब मास्टर साहब घर पर न होते तो वह उनके कमरे में जाकर महाभारत पढ़ा करता। उसी के पड़ोस में बिरादरी के रिश्ते से उसके एक चाचा रहते थे, जिन्हें उपन्यास पढ़ने का शौक था। उन दिनों चंद्रकांता संतति के खंड प्रकाशित हो रहे थे, जिनके वे ग्राहक थे। चंद्रकांता संतति ने उसका मन मोह लिया था समय मिलने पर वह उसके खंड पढ़ता। एक दिन पिता ने उसे चंद्रकांता संतति पढ़ते देख लिया। बस, फिर क्या था, उस पर मार पड़ने लगी और उसकी सारी किताबों को उल्टा-पुल्टा गया। कहानियों की जितनी पुस्तकें निकलीं, सब उससे छीन ली गयीं। उसके मनोरंजन का वह एकमात्र द्वार भी बंद कर दिया गया। उसे बालकोपयोगी उपन्यासों के संक्षिप्त संस्करण पढ़ने की अनुमति अवश्य दे दी गयी थी, क्योंकि उसके पिता उन्हें अंग्रेजी की अधिक जानकारी देने का साधन समझते थे। इसमें संदेह नहीं कि देव को इससे लाभ भी हुआ और अपनी कक्षा के सभी छात्रों में सबसे अधिक अंग्रेजी का ज्ञान उसे ही हो गया। इसी समय उसे क्रांतिकारी साहित्य मिला, जो प्रायः अंग्रेजी में लिखा होता था। उर्दू और हिंदी में भी कुछ लेख इत्यादि पढ़ने को मिले, किंतु अंग्रेजी के मुकाबले वह बहुत कम होते थे। उसके पिता ने अपनी पारिवारिक परंपरा को तोड़कर देव का विद्यारंभ संस्कार हिंदी वर्णमाला से करवाया।

देवदत्त को रात भर नींद नहीं आयी। मानसिक उधेड़बुन में ही उसकी सारी रात कट गयी और सबेरे जब वह उठा तो उसका सिर जल रहा था। नियमानुसार जब वह नहाने गया तो उसका मन नहीं हुआ, परंतु उसे भय था कि नियमित काम न करने से मां और

मौमी प्रश्नों की झड़ी लगा देंगी। फिर तो किसी भी तरह वह अपनी यह स्थिति छिपा नहीं सकेगा, किंतु नहाने के बाद उसे इतनी जोर की सर्दी लगी कि उसके शरीर की बोटी-बोटी कांपने लगी। धोती ओढ़े जब वह खाने के लिए चौके में बैठा तो बुरी तरह कांप रहा था।

मौसी का ध्यान अभी तक रोटी सेंकने में था, इसलिए उन्होंने उसकी तरफ देखा नहीं था। थाली परोस कर जब उन्होंने उसके सामने रखी तो उनकी नजर उस पर गयी। उसे कांपत देखकर उन्होंने उससे पूछा, "तू कांप क्यों रहा है देव, सचमुच तेरी तबीयत खराब तो नहीं हो गयी?"

बिना कोई उत्तर दिये देवदत्त रोटी का कौर तोड़ने लगा तो मौसी ने फिर वही प्रश्न किया। उसने सिर हिलाकर 'नहीं' का संकेत किया, लेकिन मौसी को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने उठकर उसका शरीर छुआ। वह तप रहा था। वे घबराए स्वर में बोलीं, "अरे, तुझे इतना तेज बुखार है और तूने हम लोगों को बताया तक नहीं। हम लोग क्या तेरे दुश्मन हैं। दीदी, आकर जरा अपने लाड़ले की करतूत तो देखो।" उन्होंने देव की मां को पुकारा।

"अरे, मौसी, मां को क्यों पुकारती हो।" देव को लगा कि उसकी इस हालत से मां को बहुत दुख होगा, जिससे वह उन्हें बचाये रखना चाहता है, लेकिन अब तो स्थिति और भी विकट हो गयी। उसने मुंह का कौर निगलते हुए कहा, "मुझे बुखार-उखार कुछ नहीं है मौसी, मैं बिल्कुल ठीक हूं। जल्दी से दूसरी रोटी सेंक कर दो, स्कूल जाने में देर हो रही है।"

"बुखार से तू कांप रहा है और स्कूल की बात कर रहा है।"

"नहीं मौसी, यह तुम्हारा ...."

"हां-हां, मैं बेवकूफ हूं, जो तेरी बातों में आ जाऊंगी।" तब तक उसकी मां आ गयीं और अपनी बहन से पूछा, "क्या बात है सुमन।"

"अपने देव को तो देखो, शायद रात भर बुखार में पड़ा रहा और किसी को कुछ बताया तक नहीं। उठकर पढ़ता रहा। स्कूल जाने का वक्त हुआ तो ठंडे पानी से नहा लिया। बुखार और तेज हो गया है और यह कहता है कि मैं बिल्कुल ठीक हूं। दीदी, तुम्हारे इस लाड़ले के मारे हमेशा जान सांसत में फंसी रहती है।"

देव की मां ने बुखार के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुना। झपट कर उसका बदन छुआ और बोलीं, "हां सुमन, इसे तो बहुत तेज बुखार है। हाय, अब क्या करूं?" कहते-कहते वह रोने लगीं।

बहन ने उन्हें धीरज बंधाते हुए कहा, "दीदी, इस तरह घबराओ नहीं। इसको लिटा दो और डॉक्टर को बुलाओ।"

इसके पिताजी घर में नहीं हैं। डॉक्टर को बुलाने कौन जाये?"

"पहले इसे लिटाओ तो। देखो, कैसा भोला बना बैठा है। मैं जाकर पड़ोस के वैद्यजी को बुलाने का उपाय करती हूं।" कहकर वे तेजी से चली गयीं। तब देव को उठाते हुए मां ने कहा, "क्यों रे, तूने हमें बताया क्यों नहीं?"

"अम्मा, तुम तो हमेशा तिल का ताड़ बना देती हो। कल से अभी तक तो तबीयत ठीक थी। अभी नहाने के बाद कुछ जाड़ा महसूस हुआ, तुम बैठो। मैं बिल्कुल ठीक हूं।"

"तू ठीक है? क्यों मुझे पागल बनाता है। तू क्या हम लोगों को बिल्कुल ही बेवकूफ समझता है। चल उठ और कपड़े पहन।"

देव ने आचमन कर उठते हुए कहा, "अम्मा, तुम घबराओ नहीं, मामूली हरारत है। अभी दो-तीन घंटे में ठीक हो जाऊंगा। स्कूल जाने दो, नहीं तो पिताजी खफा होंगे।"

"बुखार चढ़ा है और तू स्कूल जायेगा। तेरे पिता क्या तेरे दुश्मन हैं, जो ऐसी हालत में भी तुझे स्कूल भेजेंगे। बेटे, तुझे उनके प्यार का अभी पता नहीं है। तू उन्हें गलत समझता है। वे तुझे डांटते-फटकारते हैं तो सिर्फ तेरी भलाई के लिए, ताकि तू किसी कुसंगत में न पड़े। हम तीन अंधों की तू ही एक लाठी है।"

"अम्मा, सच मानो, उनके मारने-पीटने को मैं बुरा नहीं मानता। मैं भी तो बदमाशी करता हूं और जो बदमाशी करेगा, वह पीटा तो जाएगा ही। उसका मुझे कोई गम नहीं है। स्कूल न जाने से मेरी पढ़ाई का नुकसान होगा। इम्तहान सिर पर खड़ा है। मुझे गैरहाजिर नहीं होना चाहिए।"

"एक दो दिन की गैरहाजिरी से कुछ बिगड़ नहीं जायेगा।"

"अम्मा, गैरहाजिरी पर जुर्माना होता है।"

"वह जुर्माना मैं दे लूंगी। जुर्माना तो मुझे भुगतना है न! और जब तू मेरे कहने से स्कूल नहीं जा रहा है तब तो मैं खुशी-खुशी जुर्माना भर दूंगी।"

देव की मां उसे उठाकर सीधे अपने कमरे मे ले गयीं और चारपाई पर लिटाकर चादर उढ़ाते हुए कहा, "चुपचाप लेटे रहो। अभी तुम्हारी मौसी वैद्यजी को लेकर आती ही होंगी।"

"विमला कहां गयी?" देव ने पूछा।

"पंडितजी के घर खेलने गयी है। किसी ने दरवाजा खोला है। राम करे, तेरे पिताजी हों।"

आगंतुक देव के पिता नहीं, उसका एक सहपाठी था, जो पड़ोस में ही रहता था और प्रायः देव के साथ स्कूल जाता था।

उसे आंगन से पुकारा, "देव, देवदत्त .... "। उसकी आवाज पहचान कर देव उठ बैठा और पूछा, "कौन, राकेश ।" अंदर आते हुए राकेश ने कहा, "देव, तुम्हें कुछ पता भी है। दस बजने में केवल बीस मिनट बाकी है।"

"बेटा राकेश, देव को तेज बुखार है। वह आज स्कूल नहीं जाएगा, मास्टर साहब से कह देना।"

"अरे, अभी कल तक तो एकदम ठीक था। बुखार कैसे आ गया।"

"क्या बताऊं, कैसे आ गया। शायद इसको कल से ही बुखार था, लेकिन इसने बताया नहीं। नहाकर जब यह रसोई में गया तो इसकी मौसी ने इसको बुखार से कांपते देखा। वह पड़ौस के वैद्य जी को बुलाने गयी है।"

राकेश ने देव का बुखार देखते हुए कहा, "हां चाची, बुखार तो बहुत तेज है। खाने-पीने में कोई गड़बड़ी हुई है क्या?"

"नहीं बेटा, खाया तो वही है, जो रोज खाया जाता है। यह कल दिन भर घर में रहा। शाम को फूलबाग जाने को कह रहा था, वहां भी नहीं गया। जाता तो सोचती कि वहां से कुछ खा-पी आया होगा, पता नहीं, ये कौन-सा बुखार है। वैद्य जी आयें तो कुछ पता चले।

सुबह वकील के यहां गये थे। अब आने ही वाले हैं। वे आयें तो डॉक्टर को बुलवाऊँ। और अब तुम जाओ बेटा, तुम क्यों देर कर रहे हो। मास्टर साहब से बता देना, याद करके।"

"हां चाची, अब मैं चलता हूं। मैं इसकी तरफ से अर्जी लिखकर दे दूंगा। मास्टरसाहब मेरा विश्वास करते हैं।" कहते हुए राकेश ने देव के शरीर को एक बार फिर छुआ और जाने लगा कि तभी देव ने उसे पुकारा, "राकेश, एक बात सुनो।"

राकेश ने उल्टे पैर लौटकर पूछा, क्या बात है देव ... "

देव ने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा, "मदन और शिव से कह देना कि देव बीमार है और अब वह तुम्हारा साथ देने में असमर्थ है।"

क्या मतलब।"

"इसका मतलब उन लोगों से ही पूछ लेना।"

"आखिर बात क्या है देव?"

"कल फूलबाग में उनके मिलने की बात थी। मैं जा नहीं सका। मेरे सामने ऐसी कई अड़चने आ गयी हैं कि मैं अब उनका साथ नहीं दे सकता। अगर वे लोग चाहें तो वे भी इससे हाथ खींच सकते हैं, किंतु इतना स्पष्ट है कि मैं अब उस काम से अपने को अलग करता हूं।"

"देव, ये बातें तुम्हीं उनसे कहना। मदन का स्वभाव उग्र है, वह मार-पीट करने में जरा भी देर नहीं लगाता।"

"तुम्हारे डरने की कोई बात नहीं है। जो कुछ भला-बुरा कहेगा, मुझे कहेगा।"

"नहीं देव, मैं तुम्हारी इस पंचायत में नहीं पडूंगा। तुम अच्छे हो जाओ, तब तुम्हीं उनसे कहना-सुनना।" कहकर वह चल दिया।

तभी वैद्यजी को लेकर मौसी आ गयीं तो देव की मां अंदर चली गयीं और वैद्यजी देव की नाड़ी देखने लगे।

देव राकेश के इस प्रस्ताव पर विचार करता रहा। □

चार कविताएँ

उपेंद्र रैणा

यात्रा-एक

तुम/नदी के भीतर
यात्रा कर रहे हो
और/नदी मेरे भीतर।
नदी/और मैं/और तुम
सभी/शामिल हैं
अपनी-अपनी यात्रा में।
नदी/मेरी यात्रा है
और/मैं तुम दोनों की
आख़िर/इसका आरंभ और
अंत कहां है?

यात्रा-दो

मेरी ख़ामोशी का अर्थ
यदि/तुम/मेरे भीतर की यात्रा मान लेते हो
तो तुम/ज़रूर बता सकते हो
कि कहां पर ख़त्म होती है
तुम्हारी/वह यात्रा
और कहां से शुरू होता हूं मैं ?

यात्रा-तीन

तुमने कैसे यह निश्चित कर लिया
कि/मेरे भीतर
तुम/यात्रा कर रही हो।
तुम/जब भी आई थीं मेरे पास
मैं था,
निःशब्द, मौन...

मौन स्वीकृति

मेरे/हरेक प्रश्न पर
तुम/मौन रहीं
और मैं/उसे तुम्हारी स्वीकृति मानता रहा।
तुम क्या अर्थ दोगी
जब/मैं
मौन हो जाऊँगा ?
□

चार कविताएँ

राजकुमार कुंभज

(एक)

जरा तलाश थीं तुम

जरा तलाश थीं तुम
जरा पलाश थीं तुम
उस पलाश में मैं था
उस तलाश में मैं था
तुम थीं किस तलाश में ?
तुम थीं किस पलाश में ?
जिस पलाश में तुम थीं
उस पलाश में मैं था
जिस तलाश में तुम थीं
उस तलाश में मैं था
तलाश के पलाश में
पलाश की तलाश में
न तुम थीं/न मैं था/तलाश में
न मैं था/न तुम थीं/पलाश में
पलाश थे दहकते हुए
तलाश थी भटकते हुए
भटकते-भटकते/तलाश हुई तुम
दहकते-दहकते पलाश हुई तुम
जरा तलाश थीं तुम
जरा पलाश थीं तुम
उस पलाश में मैं था
उस तलाश में मैं था

(दो)

वसंत आया ?

मैंने पूछा
वसंत आया ?
लड़की बोली
आया तो
मगर
मम्मी-पापा को
पसंद नहीं

मैंने पूछा
वसंत आया ?
लड़का बोला
आया तो
मगर
मम्मी-पापा से
नजर बचा कर

मैंने पूछा
वसंत आया ?
पापा बोले
आया तो मगर
मुझे उधार चुकाना है
बनिये का

मैंने पूछा
वसंत आया ?
मम्मी बोली
आया तो
मगर मुन्ने के पापा आजकल
देर से आते हैं

मैंने पूछा
वसंत आया ?
कवि बोला

आया तो
मगर
वरिष्ठ संपादक के
खेद सहित. . .

(तीन)

और ईश्वर के विरूद्ध

अगर ईश्वर
सिर्फ इसलिए देता है/मुझे/यह जिंदगी
मैं/सिर्फ/उसी के मुताबिक चलूं
और उससे भिन्न/कुछ नहीं करूं
तो/नहीं चाहिए ऐसी जिंदगी

अगर ईश्वर
सिर्फ यही चाहता है कि मैं
सिर्फ/उन्हीं/रास्तों पर रहूं
जो सिर्फ उसके बनाए हुए हैं/इस पृथ्वी पर
तो/मैं नहीं चाहता/वह सब

अगर ईश्वर ने
सब कुछ/हां सब कुछ/पहले से ही तय कर दिया है
और मेरे लिए करने जैसा कुछ भी नहीं है/यहां
तो/मैं/ईश्वर से ही पूछना चाहूंगा कि बताओ
इस पृथ्वी पर/क्यों रहना चाहूंगा/तब मैं ?

अगर ईश्वर
इस पृथ्वी के/समस्त कार्य/संपन्न कर चुका होता
तो यह पृथ्वी मनुष्यों की बजाए ईश्वरों से
लबालब भर गई होती/और/हमें रहने के लिए
कहीं और/जाना होता और ईश्वर के विरूद्ध

अगर ईश्वर
हमारी भाषा समझता हो तो/तो हमारा शुक्रिया ले
कि यह पृथ्वी/सिर्फ उसी के मुताबिक नहीं है कायम
हमारे लिए भी बहुत कुछ/करने जैसा है यहां
और/बहुत कुछ/किया है हमने

(चार)

रास्ते के लिए

मैंने/खेतों में देखा
पसीना बोया जा रहा है/वहां
और/जन्म ले रहा है विचार
कपास की शक्ल में

मैं/नहीं जानता.
कि कागज पर/कैसे उगाए जा सकते हैं/शब्द ?
हैं/या/होंगे वे कोई और/पारंगत
जो अब भी शामिल हैं परंपरागत-व्यवसाय में
और/सब कुछ तय कर देते हैं/कागज पर
कि सब कुछ/कागज पर तय कर लेते हैं

मैं/नहीं जानता
कि विद्वानों के लिए ही/क्यों जरूरी है/दुनिया ?
है/या/होंगे वे भी जो खारिज करते हैं उन्हें
जो अब भी पहाड़ काटते हैं रास्ते के लिए
और/सब कुछ तय करते हैं/जमीन पर
कि जमीन के लिए/मरते हैं जमीन पर

मैं नहीं जानता
कि तमाम वन प्रांतर/असहाय होकर/कैसे बन सकता है कागज?
कैसे रजामंद हो सकता है एक वृक्ष
शयनकक्ष का/पलंग बन जाने के लिए/यहां
जहां/जरूर कुछ ऐसी बातें रही हैं। और जरूरी भी
कि जिन्हें छुपाया जाता रहा है ?

मैंने/शब्दों में देखा
नकाब बोया जा रहा है वहां
और/जन्म ले रहा है विरोध
टमाटर की तरह

□

दो कविताएँ

केदारनाथ कोमल

(एक)

आदमी

वे
अब भी मुझे प्यार करते हैं
जबकि मैं कब का
मर चुका हूँ

वे
अब भी मुझे आदमी
आदमी कहकर पुकारते हैं
जबकि गंदे नाले-सा मैं
ज़हर से भर चुका हूँ

वे
अब भी मुझे
'फूल' के नाम से पुकारते हैं
जबकि मैं मानवता के पेड़ से
कब का झर चुका हूँ...

(दो)

ध्वनि

खुद ही बजता है
गुनगुनाता है
डोलता है
डोल-डोल
डोलता है
दसो दिशाओं में

दिल की धड़कन में
एक संतूर छिपा है...

अब
मुझे किस
बात की परवाह है
जल-जल मुस्काते
हर धुएँ में मेरा
नाम लिखा है...

□

लंबी कविता

जयसिंह नीरज

माधवी लता

लता ! माधवी लता !!
वह मुंड़ेर से
झांकने लगी है मेरे अहाते में
कोमल-कोमल हरे पत्तों में लिपटी
दिन ब दिन उझकने लगी है ऊपर।

कभी शर्म से दबी जाती
फिर पसरने लगती है मुंड़ेर के इर्द-गिर्द
धीरे-धीरे वह आसन जमाती है
मेरे एक कोने पर।

सुबह उठते ही मेरी निगाहें
अटकती हैं उधर
वह ओस नहाई
सद्यस्नाता लहक-लहक उठती है
रोज-रोज जवान लगती है।

मैं लॉन में बैठा डूबा हूँ
गहन चिंता में
धीमे से जैसे मेरी पीठ को
थपथपाकर स्पर्श किया हो किसी ने
अपने से बाहर निकल
देखता हूँ पीछे।

माधवी लता ठगी सी खड़ी है
हथेली में फूल सजाए, मेंहदी रचाए
होठों पर मलाई मुस्कान लिए,
मेरा मन महक में डूब जाता है
चिंता रहित मैं खिल उठता हूँ

गुलाबी गुच्छों सा,
शिराओं में दौड़ने लगता है खून
रोएं रोमांचित हो उठते हैं
चेहरे पर आ जाती है
एक रंगीन--चमक।
मैं लॉन में बैठा घंटों उसे निहारता हूँ
फूलों से लदी, जाती है लता
गुलाबी हो जाता है मेरा परिसर
गुच्छदर गुच्छ लटकते फूल
भीनी-भीनी सुगंध।

घूरता हूँ उसे
वह छुई-मुई सी दुबकती मुंड़ेर पर
शायद बुदबुदाती हो
घूरना अच्छी बात है क्या?
पीठ फेर डूब जाता हूँ अंतर में
शरबती नदियां किलोलें करतीं
रंगों का उग आता है इंद्रधनुष
उतरता ही चला जाता हूँ
गुलाब जल के सरोवर में
महसूस करता हूँ
सर टिकाए पीठ पर वह
खड़ी हो छाया सी।
सीढ़ी दर सीढ़ी उतरती हो
तहखाने में
एक-एक मोमबत्ती रखती
अंधकार बुहारती
मतवाली गंध, रम गयी
मेरे तन में मन में
अतीत स्मृतियों सी।

मैं कमरे में घुसता हूँ
लगता है मुझसे भी पहले
मादक महक लिए
वहाँ छा गयी है माधवी लता

पलंग पर करवटें बदलती
पुष्प गुच्छों को लपेटा देती
तीखी निगाह से भेदती अंतर
मैं उसके सामने सच हो जाता हूँ
उतार फेंकता हूँ मुखौटा
सचमुच मैं 'मैं' हो जाता हूँ।
वह दुलार भरी थपकियां देकर
सुलाती है मुझे
मैं सपनों में खो जाता हूँ
एक नन्हें बच्चे की तरह
या एक जवान अतीत सा
वह फिर जा बैठती है मुंड़ेर पर
अपनी संपूर्ण महकभरी
कौमार्य अस्मिता के साथ।
माधवी लता! ओ माधवी लता!!
तुम मेरे घर की महक हो
कस्तूरी सी
गमकती रहो, मेरे तन में मन में
मैं जहाँ भी होता हूँ
तुम मेरे साथ होती हो
एक सुगंध भरी मुस्कान के साथ
माधवी लता! ओ माधवी लता!!

□

दो कविताएँ

रत्ना वर्मा

(एक)

वर्तमान से होते हुए

कैसे भरूं
इस खाली अंतराल को
जो बीत गया
मुट्ठियों में बंद रेत की तरह
मेरे हाथों से

पीछे मुड़कर देखना
कभी नहीं आया मुझे

मैं वर्तमान में जीती हूँ
वर्तमान के रथ के पहियों के साथ चलती हूँ
अंधकार से घिरे दीप की बाती की तरह
सुबह की रोशनी तक जलती हूँ

केवल चलना है मुझे
इन्हीं रास्तों से
जो बनाये हैं मैंने अपने पांवों से

होगी कहीं मंजिल
और यदि न भी हो
मुझे कोई अफसोस नहीं
मैंने बनाये हैं रास्ते
जो मेरे अपने हैं
इस वर्तमान से होकर गुजरने वाले
भविष्य के सपने हैं।

(दो)

पगडंडियां और रेत की दीवारें

सूनी नहीं हैं पगडंडियां
मैंने अपने पैरों के निशान
छोड़ दिये हैं तुम्हारे लिए

जितनी दूर आगे जाओगे
मेरे पैरों के निशान
इन पगडंडियों पर
उभरे शिलालेखों की तरह पाओगे

नहीं बनते महल
रेत की दीवारों से

विश्वास और आस्था की दीवारों से
मैंने बनाया था रिश्तों का महल
नहीं जानती थी
तुम्हारे घर की दीवारें रेत की हैं
तुम्हारे विश्वास पर मैंने छोड़ा था महल

तुम्हारे साथ रह कर
जी लेने की कोशिश की थी मैंने

बहुत देर बात मुझे पता चला
तुमने रेत की दीवारों से
बनाया था अपना घर
हमेशा जीते रहे कच्ची दीवारों के सहारे

इन्हें टूटना ही था
नहीं बनते महल
रेत की दीवारों से

□

तीन गीत

रामचंद्र चंद्रभूषण

(एक)

खुशबू के दिन

शंखद्वीपों से निकल
खेलो ना आज मछलियों से
एक बुलबुल टकराई
उड़ती रंगीन तितलियों से

तलवे-सागर की गहराई
ये तलहथियाँ झागों की
मूँगे की लिपियों में अंकित
गाथा सुर्ख सुहागों की

नीली आँखों का सम्मोहन
अवकाशों के क्षण ओढ़े
ये पूजा के बेलपत्र
चिपके सुकुमार अंजलियों से

तट की सीमाओं को छूती
हर पगडंडी गाँवों की
धमनी में बजती प्रतिध्वनियाँ
फूलों की मेहराबों की

सर्गों में हर रूप विभाजित
पर्वों में कुछ नाम बँटे
जाने कब तेरी परछाँई
गुज़रेगी इन गलियों से

(दो)

इस पूनम के चाँद पर

इस पूनम के चाँद पर
क्यों तुमने हल्दी पीस दी
किस नुमाइश के लिए
इतनी बड़ी बख़्शीस दी

देहिया-भरम लागे
नेहिया-शरम लागे
धेनुआ बकेन झूमे
गेहिया-गरम लागे

नेटुआ के नाच में
ठिठोली हर बोलिया की
फुलवा के मेलवा में
मीठी-मीठी टीस दी

बोहनी में भाव बढ़े
सोहनी में छाँव चढ़े
कोहनी की टुनकी पै
अँखियों में गाँव चढ़े

गोतिया-देआद के
दुआर पै हँकार पड़े
पेठिया पठायनी में
लावनी नफ़ीस दी

(तीन)

रंगों की पांडुलिपि

रंगों की पांडुलिपि
धर गया गुलाब
बाँच रहे लहरदार
दिन ये खुशबू के

नीलम के द्वारे
हीरों की बारात
लाये हैं पाहुन
कोहबर के सौगात

परिछन में बिखर रहे
खोंइछा के धान
टपक रहे आलते
रह-रह नहछू के

ढेर-ढेर चुप्पियाँ
छौंक अमलतास
रख गया सबेरे
शतरंज और ताश

एक फूल—'रेशमा'
एक—'नाजिया हसन'
कुल्लू घाटी में
अब जश्न हैं जुहू के

□

ललित निबंध

बिल्व की महिमा न्यारी

डॉ. मनोहरलाल

आजकल मैं दिल्ली की एक बस्ती का प्रवासी हूं। मेरा सौभाग्य कि गत बीस बरसों से खानाबदोश-सा, दर्जन भरे डेरे बदल लेने पर भी अपने गिरि-ग्रामप्रांतर की रम्य प्रकृतिश्री से वंचित नहीं रहा। हर कहीं, कोई-न-कोई, मेरा बाल-सखा पुष्पपादप, पुष्पतरु अथवा फलवृक्ष मेरे सिर पर अपने शीतल साये का वत्सल हाथ फेरता ही रहा।

यहां इस बड़े-से मकान के छोटे से आंगन के तोरणद्वार की दायीं ओर, इस घर की पहचान-सा, मेरा अंतरंग बालसखा—अमलतास-बराबर लहरा रहा है। यह जब अपने हरित परिधान को अपनी पतझड़ी रुत में धरित्री माता को होले-होले सौंपकर ताम्रवर्णी पत्र-संपदा से 'वांसांसि जीर्णानि यथा विहाय' वाले श्रीगीतानाथ के दर्शन-पाठ को मेरे मानसी श्यामपट पर हर बरस नये सिरे से लिखता है, तब मैं कुछ समय उपरांत, इसकी पीताभ शोभा के भार से झुकी अधोमुखी हुई जा रही, मंजरियों को निहारकर अघाता नहीं हूं। मुझे लगता है, मेरे गिरि-ग्रामप्रांतर में इसके कुलीन कुल की दूर-दूर तक छितरायी सारी पुष्पश्री इसी में आकर पूंजीभूत हो गई है। इसका तोता-पाखी पत्रहास और पीतांबरा पुष्पहास मेरे लिए शरदागम पर्यंत भी नयनोत्सव बना रहता है।

शेफाली और चंपा की मधुरशोभा यहां इसकी पड़ोसन है। उससे आगे पड़ोसी मकान के प्रांगण में पपीता इतरा रहा है। ग्रीष्मागम पर अमलतास ने अपने शाखाहस्तों में पीली-पीली जो मंजरियां थामी थीं, वे आज शरदागम की बेला में भी इक्की-दुक्की दिख रही हैं। हरित पत्रवसना शेफाली दिन भर गुमसुम रहकर, रात के चिलमन में से झांककर, अपनी नन्हीं-नन्हीं डालियों में श्वेत-सुमन संपदा की डलिया लिए भीनी-भीनी सुगंध के मिस मेरे कान में कहती है—"मैं शरदागम की संदेशवाहिका हूं। इधर तो निहारो।" मैं उधर देखने को उद्यत होता ही हूं कि पीताभ चंपा-प्रसून पत्र-गुच्छों से उचक-उचक कर मौनमधि पुकार कर कह उठते है—"जरा इधर भी।" और आगे देखता हूं—पपीते की पुष्पश्री पर भी पीलिमा का ही आधिपत्य है। कुल मिलाकर हरित स्याम दुति वाली यह पीतांबरा प्रकृतिश्री मेरे मन को मोह-मोह लेती है। मैं इस पुष्प-विलास को भोर में निहारता हूं, दोपहर में निहारता हूं और सांझ-सकारे भी। रात की तमसयवनिका और चंद्र-चंद्रिका के विमल हास में इसे दृष्टि के हाथों से छूना और भी अच्छा लगता है। सचमुच, 'वनिजो भवंतु श नो वृक्ष हमारे लिए शांतिदायक हों'—'ऋग्वेद' में आई यह मंत्र-प्रार्थना व्यर्थ नहीं गई है।

मेरे इस घर के पिछवाड़े में यूकेलिप्टस का श्वेतांग तथा हरितांग विन्यास है। सांझ

होते ही इस पर रैन-बसेरे के निमित्त प्रतिदिन एक कपोतसभा आ जुटती है जिसे देखकर यह कहनेवालों पर यकीन नहीं होता कि यूकेलिप्टस पर पक्षी नहीं बैठते। इस पर तो एकाधिक काक-नीड़ भी हैं।

कोई पांच साल पहले मेरे एक परिजन अपने ग्राम-प्रांतर से एक बिल्व-फल लाए थे। वह रखे-रखे अधिक पक गया, पककर सड़ गया और सड़कर फट गया। उसे कूड़ेदान के हवाले न कर, काले हीरे (कोयला) की पेटी में पटक दिया गया। बरसात हुई। वह धुला। नहाया। भीगा। और, फिर अपने प्राकृतिक कर्म-विन्यास में जुट गया। उसके बीज (शायद सारे-के-सारे) अंकुरित हो उठे। उन्हें देखकर मन उल्लास से भर गया। वे नवजात नन्हें-नन्हें बिल्व-शिशु पावन समझकर सुपात्र मित्रों में बांट दिए गए और एक जो ज्यादा तगड़ा था, 'होनहार बिरवान के' को चरितार्थ करता था, एक गमले के हवाले कर दिया गया। वह आज भी यहां है और पांच साल में मात्र दो अढ़ाई फुट की बौनी ऊंचाई ही जुटा पाया है। इसके होने से मुझे अपने आराध्य पर बिल्व पत्र चढ़ाने के लिए इस महानगरी में अन्यत्र नहीं भटकना पड़ता। मैं इसका भिक्षुक हूं और यह मेरा उदार दाता।

आज मेरा मन इसी गमलावासी से बतियाने को कर रहा है। इसलिए सबसे पहले इसका परिचय हो जाए।

बिल्व भगवान् शंकर का लाड़ला है, उनको प्रिय है। उनका पुजापा है। देवभाषा संस्कृत का यह 'बिल्व' मेरे गांव की बोली में अपभ्रंश की पगडण्डी पर चलता-चलता 'बिल्ल' हो गया है। इसी से 'बिल्व-पत्र' को वहां 'बिल्लपत्ती' या 'बिलपत्ती' कहते हैं। संस्कृत में यह सुसंस्कृत 'श्रीफल' भी है। हां, 'श्रीफल' का अर्थ विस्तार वृक्षों में, खिरनी तथा राजदाना-तरु और फलों में सुपारी (कच्ची) शरीफा, आंवला तथा नारियल तक भी है। धन-द्रव्य को भी 'श्रीफल' कहते हैं। हिंदी, पंजाबी, मराठी और बंगला वाले इसे 'बेल' कहते हैं। बेल का अर्थ लता भी होता है। सज्जन लोग शीषकों को 'अमरबेल' कहकर आदर देते हैं जो उचित ही है। गुजराती में यह करबट बदलकर 'बाली' हो गया है। शायद भारतमूल का विटप होने से फारसीवालों ने इसे 'बल' और 'शुल्ल' नाम देकर व हिंदी और अरबीवालों ने 'सफरजले हिंदी' कहकर ठीक ही उचारा है। जंबीर-कुल का यह औषध-तरु अंग्रेजी में बेंगाल क्विस है।

बिल्व से मेरा पहला-पहला परिचय तब का है जब मैं बहुत छोटा था, नासमझ था, अबोध था, बालक था। धुर बचपन के एक जेठ की वह सांझ आज भी मेरी आंखों के सामने तैर रही है। ग्राम-प्रांतर के आसमान को, यकायक एक अपशकुनी काक-सम्मेलन ने पाटकर, अपने कांय-कांय कनफोड़ कर्णकटु प्रसारण से भयाक्रांत कर दिया था। काका ताऊ लंबी बीमारी में शय्या-शायी हुए जीवन और मृत्यु के बीच झूल रहे थे। काक-सम्मेलन संपन्न होते-होते उनके प्राण-पखेरु उड़। और देखिए, मृत्यु-सूचक सीधी फूंक घू घू करी शंख-धवनि अभी एक-दो बार ही प्रसारित हो पाई थी कि वह काक-सभा कब विसर्जित हो गई, किसी को पता भी न चला। यह पीड़क स्थिति मुझे आज भी दहला देती है। मेरे

कानों में बड़े-बूढ़ों के ये बोल पड़े थे—ये कौए नहीं, धरमराजा के दूत थे। शंख की आवाज सुनकर भाग खड़े हुए।' जो भी हो, मुझे लोकमानस की इस अवधारणा में शंख-ध्वनि की पर्यावरणी शक्ति का बोध हो रहा है।

हां, अगले दिन खाणा के सूड़ों (जल-उत्स) पर चीड़-काठ के सल (चिता) में रखी काका ताऊ की मिट्टी 'हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केस जलै ज्यों घास' की नाई धू-धू जल उठी थी और किसी ने मेरे हाथ में चंदन, बिल्व तथा आमल (आंवला) की तीन छोटी-छोटी लकड़ियां थमाते हुए कहा था—''इन्हें दोनों हाथों से आहुति की तरह जलती चिता में डाल दो।''

जीवन और मरण के बीच धधकती अग्नि-रेखा का यह मेरा पहला-पहला निकट दर्शन था।

हमारे कांगड़े में दाह-संस्कार के साथ एक कर्म जुड़ा है—'लकड़ी पाणा'। माना जाता है कि इन तीन पवित्र वृक्षों की लकड़ी का स्पर्श पाकर चिताग्नि मृतक की सद्‌गति में सहायक होती है और प्रदाता की पुष्पावली में एक और यह पुण्यकार्य जुड़ जाता है। 'लकड़ी पाणा' के नाम पर हर आदमी शव-यात्रा में मात्र एक-एक लकड़ी सिर अथवा कंधे पर रखकर ले जाता है, उसे चिता में लगाता है। शायद इस एक का तात्पर्य 'एकोऽहं द्वितीयोनास्ति' है, एक ओंकार है, एक ही मार्ग है—मृत्यु-मार्ग, जीवन का अंतिम ध्रुव। और, यह सत्य भी है, इससे कौन इनकार करता है। शव भी तो एक उकठा काठ ही है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि बिल्व भी चंदन और आमल (आंवला) की तरह हमारी सभ्यता में, हमारी संस्कृति में, हमारे धर्म में, हमारे कर्म में एक पवित्र सांस्कृतिक वृक्ष है। हमारी धर्म-संस्कृति के विकास का क्रीड़ा-कंदुक है।

सभ्यता है तो संस्कृति है। संस्कृति है तो सभ्यता है। दोनों अभेद्य हैं, अछेद्य हैं। सभ्यता शरीर है तो संस्कृति उसमें वास करने वाला अजर-अमर आत्मा। आत्मा में जब अच्छे-अच्छे गुणों का आगम होने लगता है, तब वह संस्कृति बन जाती है और जब ये गुण हाथ-पैर आदि अंगों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं तो 'सभ्यता' कहलाते हैं। कोई बालक किसी के सामने अशोभनीय हरकतें करता है, तो प्रश्न-चिह्न उभरता है—मां-बाप ने इसे कैसी सभ्यता सिखाई है ? किसी का व्यवहार सदाचारपूर्ण होता है, तो कहना होता है—कितना सभ्य बालक है यह। सभ्यता और संस्कृति के इस विकास में विद्या तथा कला का ही योगदान रहता है। समय-समय पर खेले जाने वाले खेल भी विद्या या कला ही कहलाते हैं। हमारे देश के प्राचीन क्रीड़ा-कौतुकों में बिल्व ने 'कंदुक-क्रीड़ा' की-सी भूमिका निभाई है। इसमें बिल्व-फलों को ऐसा फेंका जाता था कि बीच में टकरा जाएं।

श्मशान की चिताग्नि में दी जाने वाली यह काठाहुति मेरे मन में वैराग्य अंकुरित कर देती है। मेरा यह वैराग्य तथाकथित श्मशान-वैराग्य नहीं होता। मुझे भौतिक पदार्थों की व्यर्थ की संचयवृति कचोटती है। भौतिक जीवन में त्याग की तरिणी पर अपनी जीवन-नैया को खेने वाले त्यागी इस मर्म को समझते हैं पर सारे त्यागी, त्यागी भी तो नहीं हुआ करते।

'मा फलेषु कदाचन' की रटंत और सुनंत मात्र से कोई त्यागी नहीं हो जाता। सोचता हूं—जिन्होंने अपनी कई-कई भावी पीढ़ियों के लिए भौतिक-संपदा का संचय कर रखा है, वे यदि उदारमना हों, जरूरतमंदों के लिए त्यागी हो लें, तो कितना अच्छा हो। 'आर्थिक विषमता की खाई पट जाए।'

मैं यह प्रस्ताव एक सुपात्र के सामने रखने की धृष्टता कर बैठता हूं। मूंजी की पूंजी का धनी वह मुझे—अकर्मण्यता फैल जाएगी। कर्मठता के वंश का नाश हो जाएगा—कहकर मुंह बंद ही रखने की विदुरनीति पढ़ाने लग जाता है। मेरे मानस-पटल पर कितने ही चित्र अंकित होते चले जाते हैं। ऐसे में, मैं क्या करूं ? कोई क्या करे!

कई बार यह दौलत का पुतला पूछता है—'अमरत्व कैसे प्राप्त होता है? मैं बड़ी सहजता से शब्द-तमाचा जड़ देता हूं—''अमरत्व त्याग से मिलता है, जन-सेवा से मिलता है। धन-दौलत से खरीदा नहीं जा सकता। यह वह 'सुपर' नहीं है कि सुपरबाजार में मिल जाए।''

मैं आगे समझता हूं—''त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से उसका ब्याज त्याग की महिमा अनंत है। त्यागी मुक्ति-मार्ग का प्रेमपथिक होकर अनंत पथ पर बढ़ता है, शेष मोह की माया अथवा माया के मोह की रस्सी से बंधे रहते हैं। इसलिए बंधु। त्याग करो, और खूब करो। मन को त्याग के साबुन से धो डालो। पर जिसके लिए त्याग करो, उसके मन पर अमरबेल बनकर मत छा जाओ।''

हमारा जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से पुष्ट, परिपक्व तथा पूर्ण होता है। प्रवृत्ति हमें कर्मठता का पाठ पढ़ाती है, कर्त्तव्य-परायणता की सीख सिखाती है। सब जानते हैं कि कर्मठता से बेहतर और बढ़कर जीवन-संगी/जीवन संगिनी कोई नहीं। यदि प्रवृत्ति न हो तो जीवन नीरस हो जाए, उसे आलस और प्रमाद घेर-घेर कर चबा जाएं, खा-खा जाएं।

अब इस 'बिल्व' को ही ले लीजिए। यह धरा में अपनी जड़ें घुसाकर, फैलाकर, शून्य में अपने शाखा-बाहु का प्रसार करके प्राण-पोषण में प्रवृत्त है। पर इसका यह अपने को पालना तो एक बहाना है। वास्तव में यह पर्यावरण को पोस रहा है, हमारे लिए जीवनदायी बन गया है। इसका सारा संचय औरों के लिए है। इसीलिए यह मुक्तहस्त लुटा रहा है—अपना सबकुछ फूल है तो, फल है तो, पत्ता है तो, लकड़ी है तो। दुनिया के दस्तूर से खबरदार करने के लिए। यह स्व-अर्जित संचित का उपभोग अपने लिए करता भी है, तो भी अंततोगत्वा औरों के लिए। हम अपने सुख-स्वार्थ के लिए इसे लूट-खसूट लें, तो भी कोई गिला-शिकवा नहीं। जितना छीनोगे, लूटोगे, यह उतना और जुटा लेगा, जुड़ा लेगा। और, यदि इसका संचित न लिया तो भी यह उसे उसी धरा की झोली में डाल देगा, जिससे उसने यह सब पाया है। इससे क्यों नहीं सीखते हम निवृत्ति का यह पाठ। यह जानता और मानता है कि 'दिया दूर नहीं जात'। इसकी यह विशेषता ही इसकी निवृत्ति है। यह अपनी कमाई पर अपना जरा भी अधिकार नहीं जमाता, बस—औरन के हित धरा सरीर।'

बिल्वबंधु! तुम अपनी इस निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति से मुझे जीवन-जगत् की असारता

का पाठ पढ़ा रहे हो। सिखा रहे हो कि खाली हाथ आए थे, खाली हाथ ही चले जाना है, सब-कुछ यहीं छोड़कर अकेले। किसी के भी साथ नहीं जाना है, किसी को भी साथ नहीं जाना है। मिट्टी का मिट्टी में समाने की प्रक्रिया वाला संचय किसी काम नहीं। यह तो मेरी समझ में आ रहा है कि कुछ भी, कोई भी किसी के साथ जाने वाला नहीं है। हां, साथ जाएगा, साथ निभाएगा, तो बस यही वृक्ष विश्व के पहले कवि का अनूठा प्रथम काव्य। इसकी लकड़ियां चिता-स्थल तक मेरे साथ चलेंगी, मेरे साथ जलेंगी। इसके फूल-फलों का भी साथ रहेगा। यह जल-जलकर राख कर देगा मेरी संज्ञा को स्वयं राख होकर। हम दोनों का नया नामकरण हो जाएगा। रुपया-पैसा, महल-चौबारे, सब यहीं रह जाएंगे। बनजारा अपनी खेप समेट चल देगा चुपचाप। 'मसि कागद छुयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ' वाले कवि कबीर ने अनुभव की दवात में अपनी वाणी को भिगो-लोकसत्य को कितनी सरलता और सहजता से कहा है—

'चार जने मिलि खाट उठाए, रोबत लै चलै डगर-डगरिया।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, संग चली वा सूखी लकरिया।।

तरुवर! मेरी समझ में यह भी आ रहा है कि मेरी कला की, मेरी निर्मिति की, मेरी सृष्टि की तो मियाद है, पर मेरी नहीं। हर प्राणी की यही स्थिति है। प्राणियों में सबसे मेधावी, सबसे शक्तिशाली, विचारवान्, हाड़मांस का पुतला मानव सब अग्राह्य हो जाए, कुछ पता नहीं। तब भी इसका जीवन-साथी वृक्ष जन्म से मृत्यु पर्यंत इसके साथ लगा है, इसे पाल-पोस रहा है निर्विकार, प्रतिदान की भावना से बेखबर। वह इसकी माटी को ठिकाने लगाने में भी बढ़-चढ़ भाग ले रहा है अपने को स्वाहा करके। यह धन्य है।

'श्रीसूक्त' में होता बिल्व को लक्ष्मीसुत के रूप में स्मरण करके श्रीदेवी की आराधना करता है। वह कहता है—हे आदित्यवर्णे प्रकाश स्वरुपे। वृक्षों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बिल्व का जन्म तुम्हारे ही तपोवल से हुआ है। कामना है कि इसके सुफल मेरी आंतरिक और बाह्य दरिद्रता को नष्ट करें—

आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातो,
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्व।
तस्य फलानि तपसा नुदंतु,
मायाऽन्तरा याश्च बाह्याऽलक्ष्मीः।।

'शिवलिंग' पर बेल-पत्र चढ़ाने का विधान है। और 'महाशिवरात्रि' के संदर्भ में कथावाचक जिस दंतकथा को बड़ी रूचि से सुनाते हैं, उसमें एक व्याघ द्वारा विल्व-वृक्ष पर शिकार के संधान में रत हुए, अनजाने में ही बेल-पत्र तोड़-तोड़कर नीचे गिराते रहने का उल्लेख आता है। संयोग यह कि वृक्ष-मूल में शिवलिंग अवस्थित था। व्याघ का रात्रि-जागरण और शिवलिंग पर बेलपत्र चढ़ाया जाना प्रभु को मान्य हो गया। औढरदानी

शंकर ने अपने भक्त के सिर पर कृपा का हाथ रख दिया। उसको सद्‌बुद्धि आ गई, उसका उद्धार हो गया।

यह 'शिवरात्रि-रहस्य' क्या है? मुझे यह तत्वानुसंधान करना अच्छा लग रहा है। मेरे सामने एक प्रश्न सिर उठाने लगा है—यह मनुष्य देह क्या है? इसका मेरे पास सीधा-सा उत्तर है– वृक्ष ही तो! भाई! यह कल्पना मेरी नहीं है। मेरे पूर्वजों की है और शास्त्रों में विधिवत् दर्ज है। यह मनुष्य देह तो अपूर्व वृक्ष है। इसका मूल उर्ध्व दिशा में है। अधोदिशा में शाखा-प्रशाखा प्रसार है। श्रीगीतानाथ उवाचः 'उर्ध्वमूलमधः शाखामश्वत्थं प्राहुर व्ययम्'।

इसी की गोसाईं जी ने यों व्याख्या की है—

'अव्यक्तमूलमनादि तरु, त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।।
फल जुगल बिधि कटु मधुर, बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।।

असल में इस कल्पना का मूलाधार मनुष्य-देह में व्याप्त स्नायुजल है। मस्तिष्क इस देह-वृक्ष का मूल है। यह देह की स्थिति में ऊर्ध्व भाग में, ऊर्ध्वमुखी है। ये हस्त-पादादि जो अंग-प्रत्यंग हैं, ये शाखा-प्रशाखा रूप में प्रसारित हैं। और, अंग-प्रत्यंग में इनका कितना और कहां तक प्रसार है, यह बताने की बात नहीं। और, यह देह-वृक्ष जिस काण्ड से जुड़ा है, वह मेरुदण्ड है ही।

यह बिल्व ही कहीं अश्वत्थ है तो कहीं कदंब, कहीं कल्पतरु है तो कहीं बरगद या और कुछ। यही कारण है इस वृक्ष-मूल में उपासना-भेद से उपासक-शंकर, मुरलीधर तथा नारायण का दर्शन कर लेते हैं। बिल्व-वृक्ष के मूल में शिव का स्थान है। शिवरात्रि कथा में इसका यही रहस्य है। व्याध जीवात्मा है। यह इंद्रिय रूपी तीरों से विषय रूपी पशु-पक्षियों के आखेट में सलंग्न है।

मैंने नदी के कगार के वृक्ष को ढहते देखा है। कगार की माटी उसकी गहरे तक समा गई जड़ों को आसानी से छोड़ती नहीं। बेचारा औंधे मुंह शीर्षासन या शवासन की मुद्रा में मुंह-धुलाई के लिए धराशायी या जलशायी कुछ भी कहिए हो लेता है। अभी कुछ क्षण पूर्व जब यह तनकर खड़ा था, इसका सिर यानी फुनगी, इसकी शाखाएं यानी उंगलियां आसमान की ओर उठ रहीं थीं। जाने कब से यों ही उठी जा रही थीं पर ये आसमान की ऊंचाई को पकड़ पाईं ? इसका यों पतन न होता, इसके जीवन का यों ही सहज विकास होता रहता, तो भी क्या यह इस शून्य के किसी अंतिम छोर को छू पाता? अरे ओ धरा से बंधे स्वर्गप्रेमी ! अपनी इस मौत पर रो मत। अनमोल मोती मत गिरा। मेरा भी यही हाल है। मेरे इस देह-वृक्ष में मस्त पड़ी आत्मा का भी यही हाल है। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरा मस्तिष्क इस भौतिक संसार की तृष्णाओं और बुभुक्षाओं को तृप्त करने के फेर में पड़ा है। भला, मैं स्वर्गिक ऊंचाई को नापने की हिमाकत कैसे कर सकता हूं। अंततोगत्वा मेरी भी

यही गति होनी है। जानता हूं पर भौतिक प्रपंच से मुक्त कहां हो पाता हूं। इसलिए भाई, कि मैं तो व्याधि-मंदिर हूं।

और, बेल ! तुम औषधगुणों के धनी हो। तुम्हारी पत्तियां, तुम्हारे फूल, तुम्हारे फल, तुम्हारी छाल, तुम्हारी जड़—सब कुछ उपयोगी, जीवनदाता और रोगहंता। तुम्हारी शोभा तो तुम्हारे त्रिपत्रक स्वरूप में है। मैं इसे बड़े ध्यान से देखता हूं। यह मुझे डंडल समेत शंकर का हथियार 'त्रिशूल' लगती है। मैं इसे शिवलिंग पर चढ़ाता हूं और बराबर ध्यान रखता हूं कि कहीं से भी खण्डित न हो ! कहते हैं, चंद्रवार को शिवलिंग पर जल चढ़ाकर, बेलपत्ती चढ़ाने से भी ज्यादा पुण्य मंगलवार को इसका बहते स्वच्छ जल में विसर्जन करने में है। पचमुखी रूद्राक्ष की तरह यह भी पंच दलरूपा मिल जाती है। पर एकादश पत्ररूपा बेलपत्ती सचमुच दुलर्भ होती है और उसके दर्शन किसी पुण्यात्मा को ही होते हैं।

मैं इस पत्र-त्रयी को मसलता हूं। एक खास तरह की गंध मेरी उंगलियों में, मेरी हथेली मे रच-बस जाती है। मैं इसके पत्र-रस को चखता हूं। यह तिक्त है। इस पत्र-चूर्ण या पत्र-रस में गुड़ मिलाकर किसी विषमज्वरी को चटा दीजिए वह नीरोग हो जाएगा। शरीर स्वेद-गंध से गंधिया रहा है तो इसका हरे पत्तों के उबटननुमा लेप कर लीजिए, सारा दोष यह पी लेगा।

हमारे देश की काव्य-परंपरा का एक चारुत्व-विधायक अग रहा है—कविसमय। कवियों ने इसका आसरा (आश्रय) लेकर काव्याभारती का बखूबी मण्डन किया है। रस, रूप, नखशिख तथा नायिका भेद आदि वर्ण्य-विषयों में समान गुणधर्म-कथन के रूप में बिल्व-फल को कुल-गुलाई के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जानकी के विरह में तड़पते राम बिल्व से पूछते हैं—हे बेल! तुमने अपने चिकने पत्तों के समान स्निग्ध, पीले रंग के कौशेय वस्त्र धारण की हुई मेरी सीता को देखा हो तो बताओ ?

> स्निग्ध पल्लव संकाशा पीत कौशेय वासिनी।
> शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्वोपमस्तनी ।।

गोसाई जी ने इस काव्य-सौंदर्य को और स्पष्ट कर दिया। उनके राम को प्रकृति-जगत् के सारे उपमान श्रीसीता जी की अनुपस्थिति में विपरीत आचरण करते हुए दिखाई दिए। लगा—बिल्व, सुवर्ण तथा कदली आदि सब श्री सीता के इस वन-प्रांतर में न रह जाने से अति उत्फुल्ल हैं। उनके मन में राई भर भी शंका और लाज-संकोच नहीं है। वे जानकी को (वह जहां भी हैं) सुनाकर कहते हैं—हे जानकी! सुनो, तुम्हारी अनुपस्थिति में ये तत्व ऐसे खुश हो रहे हैं मानों इन्हें कोई राज मिल गया हो—

> श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं।।
> सुनु जानकी तोहि बिनु आजु। हरषे सकल पाइ जनु राजू।।

आखिर क्यों नहीं! श्रीसीता जी के उपमेय अंगों के सामने तो ये तुच्छ थे, अपमानित

और लज्जित अनुभव करते थे और अब उनकी अनुपस्थिति में इनका, अपनी शोभा के गर्व में न समाना स्वाभाविक ही है।

मैं दूसरे नहीं, तो तीसरे दिन अपने कपड़े अवश्य बदल लेता हूं। मैले हो जाते हैं न। यह बिल्व-तरु रोज-रोज इस झंझट में नहीं पड़ता। खिजाँ आने पर ही यह इस उधेड़-बुन में पड़ धीरे-धीरे अपनी पत्र-संपदा को उदारतापूर्वक त्यागकर नंग-धड़ंग हो, फिर कोमल-कोमल ताम्रवर्णी पत्रश्री का उतरीय ओढ़ लेता है। फिर चाहे यह धूप में झुलसे, वर्षा में भीगे या हवा में झूले लहराए। यह शिशिर पर्यंत निश्चिंत हो जाता है। इसका क्या है! यह तो पहने-पहने ही धुल जाएगा और पहने-पहने ही सूख जाएगा। धूप में रंग उड़ता है तो उड़े। इसे यह परवाह नहीं कि कोई क्या कहेगा—क्या पहना है? यह किसी फैशन का दास नहीं। सदियों से एक-सी ही वेशभूषा। एक ही रंग, एक ही रूप। एक ड्रेस साल भर में पुरानी पड़ी नहीं कि उतार फेंकी और उसी थान की दूसरी पहन ली, ओढ़ ली।

और, इस पत्र-ड्रेस को गिराता भी है, तो एकदम नहीं कि किसी ने कहा—एक-दो तीन, और हो लिया—नग्न क्षपणक। हां धीरे-धीरे यदि यह स्थिति आ बनती तो इसे क्या। कोई बुरा मनाए, तो मनाए। दोष सृष्टि में नहीं, दृष्टि में होता है। अब कौन समझाए कि जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। अपने पतझड़ में यह एकदम खाली नहीं हो लेता। अपने बैंक-बैलेंस पर बराबर नजर रखे रहता है। 'रिक्त स्थान भरिए' वाली कोई बात कोई इससे सीखे।

शंकर ! मैंने तुम्हारा यह पर्णपात देखा है। पतझड़ में हवा के झोंके का थपेड़ खा, तुम जब एक पत्ता गिराते हो, तो दूसरे का भी उसका पीछा करने के लिए छोड़ देते हो—'तू चल, मैं आया' पहेली को चरितार्थ करने की नाईं। और, कभी-कभी तो कोड़ियों, सैकड़ों पत्ते आत्महत्या की मुद्रा में अपना घर-टहनियां छोड़कर जमीन छूने को लपक पड़ते हैं, लुढ़क पड़ते हैं। पर ये किसी ऊंची इमारत से छलांग लगाकर आत्महत्या-प्रेमियों की तरह कुछ ही क्षणों में भू-लुंठित होते-होते औंधे मुंह गिरकर टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते। इनको शाखाच्युत करने वाला हठीला, गर्वीला पवन अपनी वत्सल गोद में ले, दुलार-प्यार के हिंडोले पर बिठा झुलाता-झुलाता, गुलाई में गगनविहार करवाता, हौले-हौले धरा का परस करवाता है, कहीं चोट न लग जाए, कोई खरोंच न आ जाए। आत्महत्या-प्रेमियों। आत्महत्या कर्म में प्रवृत्त होना हो, तो कुछ ऐसे तो करो कि मज़ा आ जाए।

क्या कभी आपने ऐसा पत्रपात-कौतुक देखा है? नहीं न। कभी मौका मिले तो हाथ से फिसलने मत दीजिएगा। इन नयनोत्सव की छटा 'और कछु' की कोटि में आती है। मैं पत्रश्री की इस पात-क्रीड़ा को देख-देखकर कई बार मंत्रमुग्ध हुआ हूं। गगन-बिहारी पत्तों की भीड़ को हौले-हौले धरती की ओर आते देख लगता है—बनौर (मधु मक्खियां) फिरका मार रहा है। धरती पर मटमैली-सी पत्र-चादर के बिछावन को हिलते-डुलते देखता हूं तो यों विस्मित हो जाता हूं कि ये मृतक भी गतिशील हैं। इनमें प्राण न सही, पर प्राणदायी पवन इनसे बिलग होकर भी इन्हें चैन के कब बैठने-लेटने देता है। वह तो इनकी स्थान-च्युति में लगा ही रहता है। या यों कहूं कि चंचल बालक की तरह इन्हें भी एक जगह टिककर

बैठना आता नहीं, सुहाता नहीं। ये शाखा-च्युत होकर, धरित्री-स्पर्श तक ही अवधि में पवन-दोल पर झूल जो आए हैं। और, अब भी उसी कौतुक के लिए मचल रहे हैं तो अस्वाभाविक क्या है? यह उदारमना पवन है कि इन मृतकों को भी नाराज नहीं कर रहा, गोल-गोल घुमा रहा है। एक स्थान से उठा, दूसरे पर टिका, बिठा रहा है।

अब देखिए न, ये पत्ते भू-लुंठित होते हैं, तो भी बड़े ठाट से, बड़ी बहादुरी से। अपना घर छोड़ते समय इनका जी जरा नहीं घबराता, कलेजा मुंह को नहीं आता। हरिऔध की 'एक बूंद' की तरह। एक मैं हूं कि मेले-ठेले में हिंडोला झूलता हूं, तो डोली के ऊपर से नीचे आने लगते ही जी घबराने लगता है, कलेजा मुंह को आने लगता है। कभी-कभी तो चीख निकल जाती है। बड़ा भय लगता है। पर इसके पास तो निर्भीकता का साम्राज्य है। भला, जब मर गए तो कैसा भय, कैसी टीस, कैसी चीख।

बीच से चौड़े और आगे से एकदम नुकीले बेल-पत्र जेठ की लू के थपेड़े खा-खाकर झड़ते हैं। अवधूत शिरीष तो इन लू-थपेड़ों की मार का मारा फूल उठता है, खिल उठता है, फूला नहीं समाता। आषाढ़ की नमी इसकी नंगधड़ंग धूलि-धूसर देह में सिहरन पैदा कर, पुलक-जगाकर ताम्रवर्णी नये-नये कोमल-कोमल पत्ते ला देती हैं। पत्तों ने अपना आसन जमा लिया, तो पुष्प-बहार के दिन जा धमकते हैं। हरिताभश्वेत फूल मधु की-सी भीनी-भीनी सुगंध के दाता। गंध, रस और स्पर्श-लोभी भौंरे जाने कितने पहाड़, कितनी नदियां लांघ, इसकी गंध-डोरी से बंधे खिचे-खिचे चले आते हैं। शायद, यह बताना चाहता है जमाने को कि 'जो गुन हैं, तो अनेक हैं गाहक'।

'ऋग्वेद' में आता है कि किसी के धन पर मत ललचाओ—मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—पर बिल्व संयम से रहने दे तब न। मुझे इसका धन-इसके फल बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। अब आप ही बताइए—जेठ की लू थपेड़े-पर-थपेड़े दिए जा रही हो और बिल्व-तरु के नीचे खड़ा, टहनियों पर लटके बिल्व-फलों को देख-देखकर 'ऋग्वेद' की सिखावन का अजपा-जाप कौन करेगा? इसके शर्बत के सामने अमृत भी पानी भरने लग जाए तो मैं क्या करूं।

शिरीष की तरह लू-भक्षी इस बेल पर ग्रीष्म में आए फूल वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर को हौले-हौले पार करके कहीं बसंत के उत्तरकाल में पूरे फल बन जाते हैं। कच्चे एकदम तोतापंखी अपनी पत्तियों में दुबके रहते हैं। गोल-गोल आकार में छोटे और बड़े-बड़े भी। नारंगीनुमा भी, और लंबेगोल भी। और, कोई-कोई तो अच्छे खासे लोटे के आकार के, कम्बू सदृश भी। कच्चे का शल्क कठोर पर चिकना। पके हुए का सुनहली पीताभ लिए। पर छिलका भरपूर कठोरता लिए। कोई अनजान पंछी भूल से चोंच मार दे, तो लेने के देने पड़ जाएं। शायद इसलिए कहावत बन गई—'बेल पका तो कौए को क्या ?'

पका हुआ बेल-हमारा भोज्य। भीतर पीताभ लिए स्वादिष्ट गूदा-ही-गूदा। मधु सरीखी शर्करा से पूंजीभूत। यह इसकी मज्जा है। इसलिए इस गूदे को 'बिल्वपेशिका' अथवा 'बिल्वकर्कटी' या 'बेलगिरी' कहते हैं और शुष्क गूदे को—'बेल सोंठ'।

मजबूत टहनियों पर लगे बिल्व-फलों को लगभग साल भर तक ललचायी नजरों

से देखते रहिए। इसे पकने और पककर धरती का स्पर्श-सुख पाने की जल्दी कतई नहीं रहती। गिरेगा, हाथ आएगा तभी जब इसे शाखा-च्युत करने का उद्योग किया जाएगा। अच्छा, इसे मत छेड़िये भला। पक गया है, पीला हो गया है तो भी धांसू नेताओं की तरह डाल रूपी कुर्सी से टिका रहने दीजिए, यह नये पत्तों के हरे-हरे साये में गिरगिट की तरह अपना रंग बदलने लग जाएगा। इसे बाहरी ही नहीं, आंतरिक परिवर्तन भी अभिप्रेत है। इसका गूदा भी रंग-बदल अभियान में शामिल हो, सफेद होकर पुनः पकने की प्रक्रिया के चक्र में पड़ जाएगा और दूसरे साल 'रितु आय फल होय' के न्याय से पुनः पक उठेगा। ऐसा जादुई फल कोई दूसरा भी है क्या? पका हुआ बेल अनमोल भोज्य। गूदा बड़ा स्वादिष्ट। जरा, इसे ताकत लगाकर तोड़िए। टुकड़ों को हौले-हौले अलग कीजिए—रेशम के तार-सा किरण-जाल खिंचने लगेगा। यह मधु-सा, इसका मधुर-रस ही इसमें पूंजीभूत है। इसे स्तन का उपमान ठीक ही बनाया है। इसमें रूप भी है आकार-प्रकार भी है और रस भी। बहुबीज युक्त गूदे में इसका यह मधुर रस गोंद सदृश इसके गूदे में चिपका है, समाया है। इसका गुण रूक्ष है, रस कषाय और तिक्त है। गर्मियों में इसके गूदे का शर्बत पीओ। दुनिया भर के बाजारू पेयों को इसकी तुलना में भुलाना पड़ जाएगा।

मधुमेहियों! ध्यान से सुनो। आपके लिए रामवाण। यह भगवान शंकर का प्रसाद है। पर इसका अधिक भोग विष्टम्भी (कब्जकारक) हो जाया करता है, इसलिए है अर्शियो! इसे ज्यादा मुंह मत लगाना, वरना चीख्र निकल जाएगी। यह शरबत औषधि के रूप में थोड़ा-थोड़ा नियमित लोगे, तो पेट के रोग हवा हो जाएंगे। आंव की तो यह बेजोड़ दवाई है। झूठ है तो इसके गूदे को धीमी-धीमी आंच पर पकाकर, उचित मात्रा में मिश्री का मिश्रण करके खाकर देख लीजिए। खाने के शौकीन और जानकार तो इसके गूदे का हलुवा भी बनाकर खाते हैं।

यह बिल्व-रस ही इसकी मीठी वाणी है। जरूर इसे भी किसी ने सिखाया है, 'मधुमती वाचमुदेयम्' में मीठी वाणी बोलूं। वाणी मन की परिचायिका जो है। इस संसार रूपी वृक्ष पर ढंग के दो ही फल तो लगे हैं—सरस प्रिय तथा मीठे बोल और सज्जनों की संगति। यह वाणी का ही तो कमाल है—

> रहिमन जिह्वा बावरी, कहिगे सरग पताल।
> आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल।।

जरा दुनियादारी से नाता रखने वालों को पूछिए—"क्या चाहिए?" झट धन की ओर स्वर्णलाभ की ओर, लोकेषणा की ओर लपकेंगे और रिश्वतखोर श्री गीतानाथ की दुहाई देकर कहेंगे—"आपकी श्रद्धा है—पत्र, पुष्प, फल, जल कुछ भी। मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति भक्त से पुजापे में मिले से भला कब मुंह मोड़ती है ?"

अब आप अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी समझ से, अपनी-अपनी क्षमता से, श्लेष का सहारा लेकर पत्र के, पुष्प के, फल के, जल के यथासंभव अर्थ लगा लीजिए,

अंततोगत्वा ये केंद्रित 'अर्थ' पर ही हो लेंगे।

बाई चांस, यदि आज इस घोर कलियुग में मुझे कहीं श्री गीतानाथ मिल जाएं, तो पूछना नहीं भूलूंगा—हे योगेश्वर! क्या आपने कभी सोचा था कि आपकी वाणी ऐसे-ऐसे अर्थकरी अर्थों की व्यंजक हो लेगी ?''

जानता हूं, वे कहेंगे—प्रिय ललाम, मैंने तो कहा था—'हे अर्जुन! जो कोई मुझे प्रेम सहित पत्र, पुष्प, फल और जल आदि भेंट करता है, मैं उसे प्रेमभाव से ग्रहण करता हूं, सगुण रूप में प्रकट होकर उसका मनोयोग से भोग लगाता हूं—

पत्रं पुष्पं तोयं यो मे भक्तथा प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।'

भाई! पुष्प को तो 'पुष्प' कहा ही इसलिए जाता है कि वह पुष्प संवर्धक है, पापहंता है, फलदायी है। ऐसा 'कुलार्णव तंत्र' में आया है—

पुष्पसंवर्धनाच्चापि पापोघपरिहारत· ।
पुष्कलार्थप्रदानाच्च पुष्पमित्यभि धीयते ।।

आप अपने इष्टदेव को पुष्प भेंटकर झट मांगल्य के पात्र हो जाते हैं। आपके लिए अलक्ष्मी-स्थिति के तिरोहित हो जाने की भूमिका बंध जाती है। आपके तेज-बल तथा ऐश्वर्य बढ़ने का योग आ बनता है, पर ध्यान रखिए—ये फूल बासी न हों, कुम्हलाए हुए न हों, अविकसित न हों, तीक्ष्णगंधी, भूपतित या किसी अन्य देव की उतरन न हो। हां, आपकी जानकारी के लिए एक सूचना यह भी कि कुछ वी. आई पी पुष्प इसका अपवाद भी हैं। तो यह जान लीजिए कि कमलपुष्प को तोड़कर ग्यारह दिन तक सहेजकर रखे रखिए, बासी नहीं माना जाएगा। कुमुद को यह छूट पांच दिन तक की है। पर हमारे निबंध का चरितनायक यह 'बिल्व' वी. वी आई. पी. है। इस श्रेणी में दो और भी हैं—अगस्त्य-सुमन और तुलसी-दल। बिल्व पुष्प रुप में नहीं, बिल्व रुप में उपलब्ध रहता है। इसके त्रिपत्रक को ही 'देवस्य मस्तकं' कुर्यात कुसुमोपहित सदा' के न्याय से देवता पर चढ़ाने का विधान है। इसे यह छूट तो यहां तक है कि एक देवता पर चढ़ाई गई बिल्व-पत्ती आप किसी भी दूसरे देवता पर बेखटके चढ़ा देने के लिए स्वतंत्र हैं, कोई बुरा नहीं मनाएगा, अलबत्ता भगवान शंकर का दुर्लभ प्रसाद मानकर ही ग्रहण करेगा, अपने भाग्य पर इतराएगा।

आप बिल्व-पत्र चढ़ाने जा रहे हैं तो देख-परख जरूर लीजिए कि कहीं खंडित तो नहीं, पर यह तो प्रकृति-उद्योग है। आप जैसे मिलें वैसे ही चढ़ा दीजिए—'बैरी सॉरी' कहकर। आपको यह छूट शास्त्रसम्मत है। पान, खदिर, आमलकी तथा तुलसी-दल भी यह छूट पा गए हैं—

'धात्री (तुलसी) खदिर बिल्वानां तमालस्य दलानि च।
छिन्नभिन्नान्यपि मुने न दूष्याणि जगुर्बुधा ।

सर्वदा तुलसी शुद्धा बिल्वपत्राणि वै तथा ।।'

इस बिल्व-पत्र में तो भगवान् विष्णु की भी अच्छी रुचि है, यह उनकी भी पसंद का है, उन्हें भी प्रिय है। क्यों न हों। एक बार क्रोध भट्टारक श्रीयुत दुर्वासा ऋषि जी से झटका जो खा चुके। बड़ी रोचक कथा है। सुन लीजिए—एक बार विष्णु जी मृत्युलोक के भ्रमण पर निकले। मार्ग में भगवान् शंकर की पूजा-अर्चना करके लौट रहे दुर्वासा जी से भेंट हो गई। कुशल-क्षेम के बाद विदा होने लगे, तो ऋषिवर ने बिल्व-फल तथा बिल्व-पत्र की एक माला प्रसाद के रूप में उन्हें भेंट की। भगवान् ने उसे आदर सहित माथे से लगाया और अपने वाहन गरुड़ जी के गले में पहना दी।

बस फिर क्या था। ऋषिवर बिगड़ गए। यह हरकत उन्हें अपना ही नहीं, भोलेनाथ का भी घोर अपमान लगी। और, उनके लाल चेहरे पर फड़कते लवों से यह शाप झर पड़ा—''स्वर्गलोक से तुम्हारी बरखास्ती। लक्ष्मी का क्षीरसागर में पतन। गरुड़-वंश का सर्वनाश।'' भला शाप कब व्यर्थ जाने वाला था। भगवान् विष्णु को लेने-के-देने पड़ गए। उन पर गाज ही गिर पड़ा। पद-च्युत होकर भटकते-भटकते, उनकी भेंट गौरत ऋषि से हो गई। दुखिया तो अपने दुःख को औरों पर प्रकट करके अपना मन हल्का कर लेता है। भगवान् विष्णु ने उनसे अपनी सारी व्यथा-कथा कह दी। वह बड़ा हल्का महसूस करने लगे। ऋषि गौरत बोले—'प्रभु! उमा-माहेश्वरी व्रत करके उसका उद्यापन कर डालिए।'

इस व्रत का विधान भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा को है। कर्नाटक में इसकी लोकप्रियता विशेष है।

भगवान् ने सलाह मान ली। औढरदानी भोले बाबा प्रसन्न हो गए। विष्णु जी को उनकी लुटी हुई दुनिया वापिस मिल गई। जाहिर है, विष्णु जी बिल्वे-पत्र चढ़ाना नहीं भूले होंगे। इसके बिना भला आक-धतूरा पचेगा। उन्हें ?

यहां इस बिल्व के बारे में एक-दो बातें और कर लूं। पत्तियां तिक्त, टहनियां कांटोवाली और फल ऊंचाई पर दुर्लभ, कठोर तथा मधुर। अब यदि मैं बिल्व-छाया-सेवन की ललक पालूं, तो शायद कंटकित भू-शायी शाखाएं प्रशाखाएं अनुमति न दें। यदि हठी होकर बैठ भी जाऊं, और कोई फल टूटकर सिर पर या कहीं भी आ लगे तो? ऐसी स्थिति में तो हर किसी को ऐसे यजमान का न्यौता कबूलते वक्त सोचना पड़ेगा न।

यह बिल्व की 'पुत्रं पुष्पं फलं-कथा' है। विधाता ने इसे ऊंचे आसमान पर इतने कठोर तथा बड़े-बड़े क्यों टांग दिये हैं? ऐसा प्रश्न उठाने वाला मैं कौन होता हूं ? यह तो उसकी सृष्टि है, उसका विषय है, वह अपने विषय का विशेषज्ञ है। सृष्टिकर्ता ने जो रचा है, ठीक ही रचा है। मैं उसे गलत करार दे भी दूं तो क्या बनता-बिगड़ता है। इसलिए जो है, और जो रहेगा वह सिर-माथे पर। मैं गलत हो सकता हूं, गलत हूं भी, मेरा इष्ट भूल नहीं कर सकता। इसलिए इस बिल्व को भी प्रणाम और बिल्वपति भगवान शंकर को भी प्रणाम।

□

गोष्ठी

भारत-फ्रांस लेखक संवाद साहित्य जगत में सन्नाटे का बोध

मस्तराम कपूर

विश्व इस समय बड़े क्षोभ और विचार-मथन के दौर से गुजर रहा है। सारे आदर्श अधूरे पड़ गए हैं, सारी विचारधाराएं अपर्याप्त सिद्ध हुई है, चिंतन-मनन और सृजन की प्रक्रिया को दैनिक जीवन की समस्याओं ने अवरूद्ध कर दिया है, कोई बड़ी रचना सामने नहीं आ रही है, बड़े लेखक नहीं उभर रहे हैं: इस तरह का निराश वातावरण चारो ओर दिखाई देता है। ऐसे वातावरण में राजधानी दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में फ्रेंच और भारतीय भाषाओं के लेखकों की तीन-दिवसीय गोष्ठी हुई। इसका आयोजन साहित्य अकादेमी और फ्रांसीसी दूतावास के संस्कृति विभाग की ओर से 21 से 23 अक्तूबर, 1991 तक किया गया। इसमें कई विषयों पर चर्चा हुई जैसे: कथा-तत्व की वापसी, आधुनिकता और परंपरा, साहित्य और दृश्य श्रव्य माध्यम और बदलते विश्व मे आधुनिकोत्तर प्रवृत्तिया। हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार भीष्म साहनी ने संगोष्ठी का उदघाटन किया तथा वरिष्ठ फ्रेंच लेखक मिशेल दियों और मराठी लेखक गंगाधर गाडगिल ने प्रबोधन भाषण दिए। फ्रांसीसी राजदूत फिलिप पेटिट् ने प्रारंभिक वक्तव्य तथा दूतावास के सांस्कृतिक सलाहकार पीयरे बारू ने धन्यवाद दिया। साहित्य अकादेमी के सचिव इंद्रनाथ चौधुरी ने अतिथियों का स्वागत किया और अकादेमी के अध्यक्ष वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य ने उदघाटन समारोह की अध्यक्षता की।

संगोष्ठी में फ्रेंच तथा भारतीय भाषाओं के लगभग 100 लेखकों ने भाग लिया। फ्रेंच लेखकों में पैट्रिक चामोशू, पॉल कास्ता, लारेंस कोसे, मिशेल दियों तथा जिया पीयरे साल्गास और भारतीय भाषाओं के लेखकों में समिक बंधोपाध्याय, एस.एल. भैरप्पा, इंदिरा गोस्वामी, डी. जयकांतन, एम.टी. वासुदेवन नायर, मगला सग्देश पाडे, अजीत कौर, गज गिल, पंकज बिष्ट, द्रोणवीर कोहली, मंजुल भगत, पद्‌मा सचदेव, प्रणव कुमार बंधोपाध्याय, शरत कुमार, प्रभजीत कौर, रणवीर रांग्रा, केदारनाथ सिंह, राजेंद्र यादव, विजयदान देथा, कन्हैयालाल नंदन, गंगाप्रसाद विमल आदि अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने भाग लिया। संगोष्ठी की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि भारतीय और फ्रेंच लेखको को एक-दूसरे की समस्याए जानने-समझने का पहली बार मौका मिला।

भीष्म साहनी ने अपने उदघाटन भाषण में कहा कि साहित्यकार की दृष्टि मे सारा विश्व एक परिवार होता है और इसलिए लेखकों को किसी देश की सीमाओं में बाधना

उचित नहीं है। साहित्य में राष्ट्रीयताओं के आधार पर खाने नहीं बनाए जा सकते। उन्होंने आशंका प्रकट की कि हम यंत्र-सभ्यता और वाणिज्यिक सभ्यता के आघात के कारण सांस्कृतिक मूल्यों को खोते जा रहे हैं। मिशेल दियों ने अपने प्रबोधन भाषण में कहा कि साहित्यकार के लिए आजादी सबसे बड़ा मूल्य होना चाहिए। यदि हम विश्व को शांति और सुख का स्वर्ग बनाने की बेतुकी आशा छोड़कर एक-दूसरे को जानने-समझने की प्रक्रिया को ही आगे बढ़ाए' तो यह इस समय बहुत बड़ी बात होगी। दूसरे प्रबोधन-भाषण में गंग..धर गाडगिल ने कहा कि भारतीय साहित्य पश्चिम की विचारधाराओं से बहुत अधिक प्रभावित नहीं हुआ क्योंकि उसके पास अपनी विरासत बहुत समृद्ध रही, संभवतः इसीलिए भारतीय साहित्य में कथा-तत्व का महत्व कभी कम नहीं हुआ। वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि हमारी आधुनिकता पश्चिमी देशों की आधुनिकता से भिन्न है। क्योंकि हमारा नवजागरण पश्चिम के नवजागरण से बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में हुआ। उन्होंने विज्ञान और टेक्नोलोजी के आघात से साहित्य को बचाने की आवश्यकता पर जोर दिया।

लेखकों को अपनी-अपनी बात खुलकर कहने का मौका संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों में मिला। फ्रेंच लेखकों ने अपने यहां के नव-उपन्यास आंदोलन की जानकारी दी और कहा कि फ्रेंच साहित्य में अतियथार्थवाद, अंतश्चेतना-प्रवाहवाद, अस्तित्ववाद आदि के दौर में कथा-तत्व का जो विलोप दिखाई देता था, वह अब नहीं रहा है और कथा-तत्व साहित्य में मजबूत होकर उभरा है। फ्रेंच लेखकों की बातें सुनने के बाद ऐसा लगा कि फ्रांस में भी इस समय साहित्य कलाओं का क्षीण काल चल रहा है। सार्त्र, कामू, जीद, मारलो, मैदाम बेवूर जैसे दिग्गज साहित्यकारों का साया उठ जाने के बाद कुछ ऐसा लग रहा है कि वहां कोई बड़ी प्रतिभाएं नहीं उभर पा रहीं हैं। यह बात संगोष्ठी के मौके पर वितरित साहित्य में भी स्वीकार की गई है। उदाहरण के लिए जैक्विस ब्रेनर ने जूलियन ग्रीन के ये शब्द दुहराए कि पेरिस बुझ रहा है, उसकी रोशनियां मद्धिम पड़ गई हैं। उन्होंने फ्रांकोस मैरियक के इन शब्दों की भी याद दिलाई कि फ्रांस इस समय साहित्यिक विपन्नता के युग में जी रहा है।

फ्रेंच लेखकों में मिशेल दियों को छोड़कर सभी नये लेखक थे। उनके मन में साहित्य रचना के बारे में वे सब उलझने मौजूद थीं जो हमारे यहां के लेखकों में पाई जाती हैं। फ्रेंच साहित्य के महारथियों के चले जाने के बाद साहित्य का रिश्ता दर्शन और चिंतन से छूट गया है और आर्थिक सफलता, पुरस्कार, वीडियो-टेलीविजन साहित्यकारों के लिए विशेष आकर्षण हो गए हैं। एक लेखक ने बताया कि पुस्तक-प्रकाशक प्रायः पुरस्कृत लेखकों को ही छापने में रुचि लेते हैं और इसलिए साहित्यिक पुरस्कार व्यापारिक षड्यंत्र का शिकार हो गए हैं। ऐसा लगता है कि फ्रेंच साहित्य में कथा की वापसी का एक कारण यह भी है कि लोग हल्की-फुल्की चीजें ही पढ़ना चाहते हैं और अपने दिमाग को कष्ट नहीं देना चाहते। संभवतः भारत में भी अब यही स्थिति है और लोग साहित्य को वीडियो-टेलीविजन की तरह केवल मनोरंजन के लिए पढ़ना चाहते हैं। गंगाधर गाडगिल ने इस ओर इशारा किया

जब उन्होंने फ्रेंच साहित्य के दर्शन-चिंतन से मुक्त होने पर कुछ प्रसन्नता प्रकट की। फ्रेंच लेखकों ने भी लगभग ऐसी ही भावना व्यक्त की।

कथा-तत्व की वापसी की चर्चा में फ्रेंच लेखकों ने आमतौर पर स्वीकार किया कि 1960 से पहले के दौर के लेखन से कथा-तत्व का गायब हो जाना उनके लिए पहेली है। मिशेल दियों भी, जो उस दौर के लेखक रहे, इस फिनामिना को नहीं समझ पाए, संभवतः इसलिए कि वे उस समय के साहित्यिक आंदोलनों से अलग-थलग रहे। उनकी दृष्टि में कथातत्व-प्रधान नये उपन्यास की वापसी, अंतश्चेतना प्रवाहवाद और अस्तितत्ववाद के अमूर्त लेखन की तुलना में बड़ी उपलब्धि है। कई भारतीय लेखक भी इस तरह के व्यग्य एवं अन्योक्ति प्रधान अमूर्त लेखन का मज़ाक-सा उड़ाते दिखे। शायद लेखकों के इस वर्ग के लिए यह समझ पाना मुश्किल है कि जब लेखक की आजादी पर पाबंदी लगती है तो वह अपनी बात कहने के लिए अन्योक्तियों, उलटबासियों, मिथक-कथाओं, बाल-कथाओ, फंतासी, नानसेंस, अमूर्त कथन, कथाहीन कहानी या कविताहीन कविता, अनगढ़ शब्द-चित्रण या अतियथार्थ आदि का सहारा लेता है। यह सब लेखकों को अपनी आजादी की रक्षा में करना पड़ता है। यह ठीक है कि कुछ लोग इन तकनीकों को फैशन के रूप मे भी अपनाते हैं किंतु संवेदनशील लेखक के ये असरदार हथियार भी हैं। उदाहरण के लिए अस्तित्ववादी लेखकों ने अपना साहित्य तब लिखा जब फ्रांस की आजादी नाज़ी-अधिकार के कारण छिनी हुई थी। भारत में आपातकाल के आतंक में कुछ लोगों ने इस प्रकार का साहित्य लिखा।

कथा-तत्व की वापसी का श्रेय काफी हद तक इलेक्ट्रानिक माध्यमो को दिया जा सकता है जिन्होंने साहित्य को आंख-कान आदि इंद्रियों का विषय बना कर उसे बाजार की मांग के अनुसार ढालने का काम किया है। साहित्य अथवा लिखित शब्द मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है, यह केवल इंद्रियों का विषय नहीं है। हमारे यहा लिखित शब्द और दृश्य-श्रव्य माध्यमों के इस भेद को लगभग डेढ़ हजार साल पहले नाटक के संदर्भ में पहचाना गया था और आचार्य शंकुक और लोल्लट ने दृश्य-श्रव्य माध्यम के प्रभाव का बड़ा विशद् वर्णन किया है। उन्होंने इसे चित्र-तुरंग न्याय से परिभाषित किया है जिसका अर्थ है कि इस माध्यम का आस्वादन करने वाला चित्र को घोडा समझ लेने के भ्रम में ग्रसित होता है और वह साहित्यिक कृति के सौंदर्य से प्रभावित न होकर अभिनेताओं के हाव-भाव तथा दृश्य-योजना से उत्पन्न चमत्कार एवं कुतूहल को ग्रहण करके प्रसन्न होता है। यही प्रक्रिया आज फिल्म-टेलीविजन के माध्यमों में भी देखी जा सकती है।

साहित्य और दृश्य-श्रव्य माध्यमों के सत्र में इस विषय पर जो चर्चा हुई उसमें लगा कि भारतीय लेखकों को भी इस साहित्यिक विरासत की जानकारी नहीं है। इस सत्र में इस प्रश्न पर बहस की काफी गुंजाइश भी कि कैसे ये दृश्य-श्रव्य माध्यम शब्द की हत्या कर रहे हैं और ध्वनि एवं चित्रों में साहित्य की संवेदनाओं को सप्रेषित करने का दंभ प्रदर्शित कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त लेखक की लिखने की आजादी को इन माध्यमों ने पूरी तरह छीन लिया है। इन माध्यमों से जुड़ने वाला लेखक वह नहीं लिख सकता जो उसके भीतर

की आवाज होती है। वह न तुलसी की तरह स्वांतःसुखाय लिख सकता है और न अस्तित्व-वादियों की तरह स्वांतःदुःखाय। उसे तो वह लिखना पड़ता है जो बाजार की मांग होती है और जो प्रचार-माध्यमों पर नियंत्रण करने वाली सरकारी या गैर-सरकारी संस्थाएं उससे लिखवाती हैं। न केवल उसे साहित्य को बाजारु उत्पाद और स्वयं को सर्जक के बजाय उत्पादक बनाना पड़ता है, उसे अपनी रचना के साथ निर्देशक, निर्माता, अभिनेता और अन्य तकनीशियनों द्वारा मनमानी को भी चुपचाप बर्दाश्त करना पड़ता है।

आश्चर्य की बात थी कि इस चर्चा में भाग लेने वाले अधिकांश लेखकों ने प्रचार-माध्यमों के इन कतिपय खतरों और उनके द्वारा लेखकीय आजादी पर लगी इस भयानक पाबंदी की अनदेखी करते हुए आम तौर पर इन प्रचार-माध्यमों को साहित्य के लिए हानिकारक नहीं बताया, बल्कि उनके अनुसार अपने को ढालने की बात की। भीष्म साहनी ने 'तमस' धारावाहिक का उदाहरण देते हुए कहा कि टेलीविजन पर दिखाए जाने से उनकी बात करोड़ों लोगों तक पहुंची और पुस्तक भी खूब बिकी। इसलिए इस माध्यम को साहित्य के लिए हानिकारक कहना गलत होगा। इन पंक्तियों के लेखक ने भीष्म जी को कॉफी-ब्रेक के समय कहा कि इसका एक दूसरा पक्ष भी हो सकता हैः संभव है कि धारावाहिक के रूप में 'तमस' न आता तो पुस्तक पचास-सौ साल जिंदा रहती, लेकिन टेलीविजन पर आने के बाद भले ही इसकी कुछ समय के लिए लहर चली हो, यह पुस्तक अल्पजीवी बन जाएगी क्योंकि यह "थ्रोअवे" कल्चर का हिस्सा बन गई है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि धारावाहिक देखकर लोगों के मन में पुस्तक के प्रति जो आकर्षण हुआ वह लोगों के साहित्य-प्रेम को दिखाता है या टेलीविजन-प्रस्तुति से पैदा हुए किसी क्षणिक कुतूहल या जिज्ञासा को। बहुत संभव है कि लोगों ने धारावाहिक के 'मिसिंग लिंक' को ढूंढने के लिए या आगे की कहानी पहले ही जानने के लिए सरसरी तौर पर पुस्तक पढ़नी चाही हो या फिर मित्रों के बीच अधिकार से बात करने के लिए पुस्तक खरीदी हो। इतना तो निश्चित है कि जब उन्हें दिमाग को कष्ट दिए बिना पुस्तक का स्वाद मिल रहा हो तो वे पुस्तक को शब्द-दर-शब्द पढ़ने में समय खर्च नहीं करेंगे।

भीष्म जी ने इसे माना और कहा कि समस्य सचमुच विकट है और शायद हम इतना ही कर सकते हैं कि हम जो भी लिखें, अपनी मरजी से लिखें और प्रचार-माध्यमों को देते समय रचना की अधिक से अधिक शुद्धता बनाए रखने पर जोर दें।

फ्रेंच लेखकों में प्रायः सभी दृश्य-श्रव्य माध्यमों के प्रशंसक दिखे। वरिष्ठ लेखक मिशेल दियों, जिन्होंने आजादी को लेखक का सबसे बड़ा मूल्य बताया था, इन माध्यमों द्वारा लगाई गई पाबंदी से काफी खुश नजर आए जिसके अधीन रहते हुए उन्होंने एक प्रस्ताव पर चौबीस नाटक लिख दिए। हालांकि फ्रांस की लेखिकाओं, लारेंस कोसे और पॉल कांस्तान ने इस बात पर असंतोष प्रकट किया कि लोगों में उनकी पहचान लेखक के रूप में नहीं, 'टेलीविजन पर्सन' होने के कारण बनी, उन्हें इससे कोई खास तकलीफ नहीं थी और वे प्रचार-माध्यमों के फायदों की बात करती रहीं।

आधुनिकता और परंपरा की चर्चा में अधिकतर शास्त्रीय चर्चा हुई जिसमें आधुनिकता की किताबी परिभाषाओं पर जोर दिया गया। आधुनिकोत्तर प्रवृत्तियों की चर्चा तो शुरू में ही पटरी से बाहर हो गई जब सत्र के अध्यक्ष मिशेल दियों ने स्पष्ट कहा कि 'पोस्ट मॉडर्निज्म' शब्द उनकी समझ से बाहर है। एस. एल. भैरप्पा ने आधुनिक सभ्यता को औद्योगिक सभ्यता से जोड़ने का सही प्रयास किया किंतु परिभाषाओं के जंगल में भटकने वाले अध्यापक टाइप लोगों ने इस बहस को आगे नहीं बढ़ने दिया। पंजाबी लेखिका अजीत कौर ने इस विषय पर बहुत अच्छा निबंध पढ़ा लेकिन उनके आलेख में ज्यादा बल परंपरा पर दिया गया था। उन्होंने कहा कि वह महाभारत और रामायण की उस परंपरा को स्वीकार नहीं कर सकतीं जिस के अनुसार पति जुए में अपनी पत्नी को दाव पर लगा देते हैं या पत्नी के चरित्र पर अनावश्यक संदेह करके उसे गर्भवती अवस्था में घर से निकाल देते हैं। उन्होंने 'टाडा' काले कानूनों का भी विरोध किया जिनके रहते हुए लेखक की आजादी की कल्पना नहीं की जा सकती।

जब आधुनिकता के स्वरूप के संबंध में ही लेखकों में कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी तो आधुनिकोत्तर प्रवृत्तियों पर क्या बहस होती? इतिहास, समाजशास्त्र और साहित्य-कलाओं के गंभीर विद्यार्थी जानते हैं कि आधुनिक सभ्यता, पश्चिमी सभ्यता, औद्योगिक सभ्यता और पूंजीवादी सभ्यता एक ही चीज हैं और ये औद्योगिक क्रांति के गर्भ से पैदा हुई हैं। औद्योगिक क्रांति ने जिस बुर्जुवा वर्ग को पैदा किया उसने जीवन के सामंती मूल्यों को नकार कर अपने मूल्य तय किए जिन्हें उसने आधुनिक मूल्यों का नाम दिया। पिछले दो सौ सालों से ये आधुनिक मूल्य ही माने जाते हैं। ये मूल्य वैज्ञानिक तथ्यों और मशीनी नियम-कायदों से निकले हैं। इस आधुनिक सभ्यता में कारखानों के आदर्श पर सारी संस्थाओं का निर्माण हुआ और मनुष्य को भी यंत्र मान कर उसे नियंत्रित करने के नये-नये तरीके खोजे गये। स्कूल कारखाने की तरह घंटे की आवाज से खुलने और बंद होने लगे, शिक्षा में मशीनों की आवृत्ति (रटाई) को आदर्श माना गया और डार्विन की 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' के सिद्धांत के अनुसार गला-काट प्रतियोगिता को शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि सब क्षेत्रों में अपनाया गया। साहित्य और कलाओं के मूल्य भी मशीनों ने निश्चित किए। अब सारे विश्व में आधुनिकता से इन मूल्यों के टूटने की प्रक्रिया शुरु हो गई है। उदाहरण के लिए 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' के स्थान पर महात्मा गांधी ने सबसे कमजोर के जीने के अधिकार का विचार रखा। विशेष आरक्षणों के समतावादी आंदोलनों ने सक्षम और योग्य के ही जिंदा रहने के अधिकार को चुनौती दी। अस्तित्ववादियों के इस सिद्धांत ने कि मन को यंत्र की तरह नियंत्रित नहीं किया जा सकता, मनुष्य की यंत्रवत कल्पना को ध्वस्त किया आदि आदि। लेकिन आधुनिकता और परा-आधुनिकता के इन पहलुओं पर चर्चा के बजाए व्यर्थ के वितंडावाद में लेखक उलझते रहे।

संगोष्ठी के समापन पर यह प्रश्न बना ही रहा कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बड़े लेखक पैदा क्यों नहीं हुए? कहा जाता है कि उन्नीसवीं सदी महारथियों की सदी थी। बीसवीं

सदी के प्रारंभिक दशकों में भी कुछ बड़े लेखक और चिंतक पैदा हुए। लेकिन आज अकाल की सी स्थिति बनी हुई है। क्या इसका कारण यह है कि बाजार की अर्थव्यवस्था से जुड़कर विज्ञान और टेक्नोलोजी ने सृजनशीलता को कुंठित कर दिया है? क्या उपभोग संस्कृति या सुविधाओं का गुलाम होने के कारण लेखक में कष्ट सहने तथा अपनी आजादी की रक्षा करने की क्षमता नहीं बची है? क्या दृश्य-श्रव्य माध्यम साहित्य के शत्रु सिद्ध हो रहे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर हम सबको मिलकर खोजना होगा। □

आधुनिक शिक्षा और महादेवी जी के विचार

डॉ. राममोहन पाठक

शिक्षा संस्थाओं के दीक्षांत समारोह सिर्फ खानापूरी नहीं होते। यह ऐसा मौका होता है जब छात्रों, अध्यापकों और इन संस्थाओं के सहकर्मियों को मार्गदर्शन मिलता है। शिक्षा के क्षेत्र में कार्य और चिंतन की ऊर्जा प्राप्त होती है। इसीलिए काशी हिंदू विश्वविद्यालय के 68 वर्षों के इतिहास में पहली बार 1984 में हिंदी के किसी कवि, साहित्यकार का दीक्षांत भाषण चिरस्मरणीय रहेगा। यह छोटी सी घटना देश के इस सबसे बड़े विश्वविद्यालय के इतिहास में एक ऐसा अहसास दर्ज कर गयी, जो सिर्फ इस विश्वविद्यालय को ही नहीं, पूरे शिक्षाजगत को बराबर कचोटता रहेगा। महीयसी महादेवी वर्मा ने अपने दीक्षांत भाषण में कुछ ऐसे प्रासंगिक प्रश्न उठाये, जिसने वहां उपस्थित लोगों के अलावा शिक्षाजगत और हिंदी से जुड़े तमाम लोगों को झकझोर दिया। कई वर्षों बाद विश्वविद्यालय में समावर्तन समारोह आयोजित हुआ था। इसमें नोबुल पुरस्कार विजेता चंद्रशेखर, इतिहासवेत्ता सर्वपल्ली गोपाल, विधि विशेषज्ञ एल. एम. सिंघवी, लेखक मुल्कराज आनंद, कत्थक केंद्र (दिल्ली) के निदेशक बिरजू महाराज तथा स्वयं श्रीमती महादेवी वर्मा को मानद डी. लिट्. उपाधि प्रदान की गयी। महामना मालवीय के विराट संकल्प और स्वप्न का मूर्त रूप विश्वविद्यालय और यहां के लोग वर्तमान परिस्थितियों में क्या कर सकते हैं। शिक्षाजगत अपने दायित्व से किस प्रकार विमुख होता जा रहा है और उसे कैसे सकारात्मक दिशा देना संभव है, इन्हीं प्रश्नों को लक्ष्य में रखकर महादेवी जी ने जो भावपूर्ण उद्‌बोधन किया उसके एक-एक शब्द आगे भी मेरे जैसे डिग्री प्राप्त करने वालों के कानों में ध्वनित होते रहेंगे। उनके उदबोधन में मां का वात्सल्य था, वे वचन गुरु के शिष्य के प्रति आशीष थे और उससे भी कहीं ज्यादा उनका संदेश समूचे शिक्षाजगत को सतर्क करने वाला संदेश था। उन प्रवृतियों के प्रति जो हमारी शिक्षा और हमारी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को निरंतर अवमूल्यन की ओर अग्रसर कर रही हैं, उनकी स्वाभाविक चिंता भाषण में स्पष्ट थी।

शिक्षा के क्षेत्र में हो रहा चतुर्दिक ह्रास महादेवी जी की चिंता का मूल विषय था। किंतु कहीं से भी वे निराश नहीं दिखीं और उनका कहना था कि गिरावट के बावजूद सुधार संभव है। आज की शिक्षा में छात्र अपने अंदर जो प्रज्वलित अग्नि शिखा लेकर शिक्षा संस्थाओं में आता है, उसकी राख लेकर वहां से निकलता है। जबकि प्राचनीकाल में वटु अंतर की जो ज्वाला लेकर गुरुकुल में जाता था वह और भी तीव्र रूप में प्रज्वलित होती थी। आज हमें शिक्षा की इसी कमी को महसूस करना है तथा छात्रों का तेज और बढ़े इस दिशा में प्रयत्न करना होगा। आज का तरुण जीवन के रचनात्मक मार्ग को तोड़कर कुंठा और द्वेष की अंधी गलियों में भटक रहा है। हमारा राष्ट्र तरुणाई से ही जागृत होगा।

ज्ञानार्जन में प्रमाद न हो यही शिक्षार्थी की प्रगति का मूल मंत्र है। शिक्षा का आदान-प्रदान बाजार की खरीदारी नहीं। गुरु-शिष्य में मानवता और लगन होनी चाहिए। शिक्षा के जो प्राचीन गौरव और आदर्श थे यदि हमारे विद्यालय उनकी ओर नहीं लौटते तो शिक्षा का पतन होता रहेगा। तक्षशिला और नालंदा के आदर्श को लेकर यह विश्वविद्यालय स्थापित किया गया था। देश-विदेश से समुद्र और पर्वत पार कर छात्र यहां विद्याध्ययन के लिए आते थे किंतु आज स्थिति दूसरी है। हमारी शिक्षा की खामियों ने हमारे छात्रों को दीन और असामाजिक बना दिया है। आज का छात्र गुरु के यहां ही डकैती डालता है। उन्होंने बड़े दुखी मन से डाक्टर रामकुमार वर्मा के यहां हुई डकैती की चर्चा की किंतु पूरी दृढ़ता से कहा कि मैं छुरे चाकू की संस्कृति से पराजय नहीं मानती। यह संस्कृति अस्थायी है। आज देश में चार करोड़ से अधिक छात्र-छात्राएं बेकार हैं। हमें उनमें संकल्प का भाव भरना है। मैं जानना चाहती हूं, देखना चाहती हूं कि आपकी आंखों में कितना संकल्प है। यदि संकल्प होगा और दृढ़ता होगी तो वह संकल्प पूरा भी होगा। सिर्फ स्वाध्याय में प्रमाद न करने से ही शिक्षा की बहुत सारी खामियों को समाप्त किया जा सकता है और बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

हिंदू विश्वविद्यालय के माध्यम से उन्होंने समस्त शिक्षा संस्थाओं को अपने आदर्शों के प्रति सजग रहने की सलाह देते हुए कहा कि महामना मालवीय चाहते थे कि यह विश्वविद्यालय पूरे भारत की पहचान बन सके। यह इतना विराट् हो कि यहां पूरे देश की संस्कृति गूंजे। उस मनीषी के स्वप्नों का मूर्तरूप यह विशाल विश्वविद्यालय है, जो आज भी अन्य विश्वविद्यालयों से भिन्न है। किंतु उस एक व्यक्ति के संकल्प को आगे बढ़ाने के लिए इतनी बड़ी संख्या में इस संस्था से जुड़े लोगों ने क्या किया? जिस तरह पारस लोहे को सोना बना देता है उसी तरह यदि महामना का कोई भी अंश : पारस : आप सब छात्रों और अध्यापकों को थोड़ा भी प्रभावित कर सके तो समूची भारतीय संस्कृति सोना बन जायेगी। यहां की स्थिति दुःखद जरुर है किंतु मैं उससे निराश नहीं हूं। अब भी हरियाली है, गंगा-युमना की धाराएं सूखी नहीं है। केवल हमारी संवेदना सूखती जा रही है। महामना के विराट् संकल्प को पूरा करने के लिए हम सभी को संकल्प लेना चाहिए कि भविष्य में यह विश्वविद्यालय ऐसा होगा, जहां पूरे राष्ट्र की वाणी गूंजेगी। 'मैं चाहती हूं कि मालवीय जी का सपना आप सभी के अंतर में जागे।'

समावर्तन समारोह में उपस्थित हजारों लोगों की आंखें उस समय कुछ पल के लिए नम हो गयीं जब महादेवी जी ने कहा कि मैं महामना के समय में इस विश्वविद्यालय में वेद पढ़ने की इच्छा से आयी थी किंतु पण्डितों ने कहा कि मनु की व्यवस्था के अनुसार स्त्रियां यहां वेद नहीं पढ़ सकतीं। अतः आपको प्रवेश नहीं दिया जा सकता। महामना मालवीय ने भी कहा कि महादेवी बहन यह विद्वानों का मत है, इसे काटा नहीं जा सकता। उस समय मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। कष्ट इसलिए नहीं हुआ कि जो लोग आपत्ति कर रहे थे, वे सत्य के प्रति निष्ठावान थे। फिर आज भी यदि यह निष्ठा दिखायी पड़े तो मैं नत मस्तक होकर इसे अपनी 'पराजय की विजय' मानूंगी।

महादेवी जी ने अपना लिखित भाषण न पढ़कर भाव विह्वलता के उन क्षणों मे जो बातें कहीं संभवतः उनसे प्रभावित होकर ही विश्वविद्यालय के कुलाधिपति डाक्टर विभूति-नारायण सिंह ने कहा कि—यह हमारे गौरव का विषय है कि जहा महादेवी जी कभी छात्रा के रूप में प्रवेश नहीं पा सकीं थीं, वहीं वे आज दीक्षांत भाषण कर रही हैं।

महादेवी जी का यह कथन सभी के हृदय में गहरे तक उतर गया कि जीवन के मूल्य किसी दूसरी भाषा में नहीं बल्कि अपनी भाषा में ही व्यक्त हो सकते हैं। हिंदी में एम. ए. की पढ़ाई सबसे पहले काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रारंभ हुई किंतु आज यह कहते हुए दुःख हो रहा है कि यहां भी अधिकांश काम-काज अंग्रेजी में हो रहा है। दीक्षांत समारोह में भी सिर्फ मेरा भाषण हिंदी में छपा है। उन्होंने पूरे साहस के साथ कहा कि जिसे पढ़ना है वह मेरा भाषण मेरी वाणी हिंदी में पढ़े अथवा फेक दे। जिसको अपनी वाणी से लगाव नहीं वह क्या कर सकता है? जिस तरह कोई विकलांग किसी बात का अहंकार नहीं कर सकता उसी तरह अपनी वाणी के अभाव में कोई व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। अंग्रेजी तो सिर्फ दो प्रतिशत लोगों की भाषा है फिर भी हम अग्रेजी को अपनाने में ही गौरव महसूस करते हैं। लार्ड मैकाले सिर्फ कर्मचारी तैयार करना चाहता था। इसलिए उसने जो शिक्षा पद्धति तैयार की उसमें अंग्रेजी की प्रधानता रही। आज भी हिंदी को रोटी और गौरव से बांध दिया गया है और आज हम अंग्रेजी की ओढ़ी हुई दीनता में जी रहे हैं किंतु बाहर से महानता का दंभ करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि इस दीनता का कोई उपाय नहीं है। उपाय जरुर है। हमें निराश नहीं होना चाहिए। इस दीनता को उतार फेकना होगा। हमारी संस्कृति का समुद्र बहुत गहरा है। सूखा है हमारा हृदय। संस्कृति और अपनी भाषा के प्रति हमारे हृदय में संवेदना होनी चाहिए। हमें हर हृदय में यह संवेदना भरनी होगी। हिंदी से उपयुक्त कोई अन्य भाषा नहीं। जिस देश की अपनी भाषा और वाणी न हो वह सचमुच गूंगा है। दुनिया का कोई भी देश ऐसा नहीं है, जो अपनी शिक्षा दूसरी भाषा में देता है। हम खुद अंग्रेजी के बंदी हुए हैं। छोटे-छोटे बच्चों को हिंदी इसलिए नहीं बोलने दिया जाता कि उनकी अंग्रेजी खराब हो जायेगी। इससे बडे दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है?

महादेवी का यह उद्‌बोधन विश्वविद्यालय के मुझ जैसे लोगों के कानों में आज भी गूंज रहा है। उस दिन मुझे ही नहीं, मेरे जैसे तमाम छात्र-छात्राओं ने, जिन्हें सिर्फ एक अदद उपाधि मिली थी, अपने को उपाधि से कहीं अधिक इस उद्‌बोधन से संतुष्ट महसूस किया—एक ऐसा संतोष मिला, जो सिर्फ रोजी-रोटी से नहीं जीवन के उन महान मूल्यों से जुड़ा है, जो शिक्षा के उद्देश्य को सार्थक करते हैं। काश! हम महादेवी की बातों को भी आत्मसात कर पाते, कार्यरूप दे पाते। उनका भाषण सिर्फ विश्वविद्यालय के दीक्षांत के अवसर पर दिया गया एक भाषण मात्र नहीं अपितु हमारे जीवन के लिए एक मार्गदर्शक संकेत है। डिग्रियां तो हर साल बंटती हैं, ऐसा उद्‌बोधन बार-बार सुनने को नहीं मिलता। यह मेरा नहीं, समारोह में उपस्थित हजारों शिक्षकों, छात्र-छात्राओं और अन्य लोगों का भी मत था। □

भारतीय संस्कृति के वाहक रंगमंच नाटक

डॉ. प्रेमशरण शर्मा

भारतीय रंगमंच एक अरसे से सक्रिय है। इसके नाटकों में अब कुछ निखार आता जा रहा है। एक समय ऐसा था जब नाटकों का रूप नौटंकी जैसा था। उन दिनों न प्रेक्षागृह होते थे, न उस तरह का संगीत होता था जो आज है। फिर भी रंगमंच चलता था। गुप्तकाल और उसके समकालीन साहित्य में सुसज्जित प्रेक्षागृहों का वर्णन आता है। हो सकता है उस समय रंगमंच अपने चरम पर रहा हो, लेकिन एक समय ऐसा भी था जब रंगमंच किसी और रूप में था। लेकिन 20वीं सदी से रंगमंच की स्थिति कुछ सुधरी और आज यह स्थिति है कि हमारा रंगमंच किसी भी विकसित देश से उन्नीस नहीं है।

आज का रंगमंच संगीत, प्रकाश, रूपसज्जा, वस्त्रसज्जा, नृत्यगान और ऐसी ही अनेक बातों में किसी से पीछे नहीं है। एक बार एक प्रकाश विशेषज्ञ से बातचीत करने पर उसने बताया कि यदि हम चाहें तो अभिनेता के एक बाल को भी कई गुना रूप में दर्शकों के सामने ला सकते हैं। इससे यह जाहिर होता है कि प्रकाश व्यवस्था. ही नहीं, रूपसज्जा भी हमारे यहां इतनी विकसित है कि एक युवती को भी अस्सी वर्ष की बुढ़िया के रूप में दिखाया जा सकता है।

अलका जी ने एक नाटक में दिन के उजाले में एक लड़की को अस्सी वर्ष की बुढ़िया का रोल दिया। जब पता चला कि इस रोल को फलां लड़की कर रही है तो बड़ी हैरानी हुई। इसी तरह *'जिस लाहौर नहीं देख्या में'* एक पुरुष ने बुढ़िया का अभिनय किया तो उसे भी कोई पहचान नहीं सका कि यह बुढ़िया है अथवा एक जवान।

भारतीय नाटक भारतीय संस्कृति से जुड़े होते हैं। लेकिन अनेक विदेशी नाटक भी ऐसे हैं जो अनुवाद करते समय पूरी तरह भारतीय संस्कृति से जोड़ दिये जाते हैं ताकि भारतीय भी इसका आनंद उठा सकें। यूं अनेक नाटक पूरे तौर पर विदेशी परिवेश में भी किये जाते हैं, लेकिन केवल उनकी भाषा बदल दी जाती है ताकि भारतीय उसे पूरी तरह समझ सकें। जैसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में विद्यार्थियों को विदेशी नाटक पढ़ाये जाते हैं और मंचित कराये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्यावसायिक मंडलियां तो विदेशी नाटक करके ही अपार भीड़ आकर्षित करती हैं और धन कमाती हैं।

पिछले कुछ दिनों में कई नाटक ऐसे खेले गये जो पूरी तरह भारतीय संस्कृति पर आधारित थे। इन्हीं में एक नाटक श्रीराम सेंटर के रंगमंडल ने हबीब तनवीर के निर्देशन में मंचित किया।

नाटक में बताया गया कि किस तरह एक परिवार हिंदुस्तान से पाकिस्तान जाता है। वहां उसे एक हवेली अलाट की जाती है, जिसके मालिक हिंदुस्तान चले गये हैं। लेकिन उनकी 80 साल की बूढ़ी मां अपनी हवेली नहीं छोड़ती। हवेली के नये मालिक उस बुढ़िया को न जाने कितने प्रलोभन देता है फिर डराता-धमकाता भी है, फिर कुछ गुण्डों को किराये पर तय करता है कि वो उस बुढ़िया को जान से मार दें।

बुढ़िया अपने में मस्त हैं। यह दीवाली का त्योहार मनाती है, नये मालिक को मिठाई भी खिलाती है। धीरे-धीरे नये मालिक की बेटी उससे हिल-मिल जाती है। इसी तरह नये मालिक और मालकिन उस बुढ़िया से प्यार करने लगते हैं। लेकिन जब बुढ़िया मरती है तो उसका हिंदू रीति से ही दाह-संस्कार कर दिया जाता है।

एक नाटक बड़े महल का हुआ। दिन के अधेरे। केदरिको गार्सिया लार्का कृत इस नाटक का हिंदी अनुवाद प्रसिद्ध रंगकर्मी इब्राहीम अल्काजी के निर्देशन मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमंडल ने खेला। अल्काजी ने इसे भारतीय परिवेश में दिखाया। नाटक की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि किसी जमाने की रंगमंच अभिनेत्री 80 वर्षीय जोहरा सहगल की इसमें सशक्त भूमिका थी। जोहरा जी को 1962 में अभिनय के लिये संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार और 1990 में रंगकर्म के लिये सांस्कृतिक मंत्रालय से एमीरिट्स फैलोशिप सहित अनेक पुरस्कार मिल चुके हैं।

'दिन के अंधेरे में' एक ऐसी औरत की कहानी है जो अपने शौहर की मौत के बाद अपनी पांच जवान लड़कियों के साथ अपनी बेमानी इज्जत के लिये अपनी बेटियों के जजवातों पर कुठाराघात करती है। एक कठोर प्रशासक की तरह अपने परिवार पर शासन करती है। उसकी आँख तब खुलती है जब एक बेटी खुदकशी कर लेती है।

यूं अल्काजी ने और दो नाटकों का निर्देशन भी किया। वे 14 वर्ष बाद भारतीय रंगमंच पर दुबारा लौटे थे। उनकी वापसी का राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने जोर-शोर से प्रचार किया, लेकिन उनकी वापसी लगता है यह अतिम सिद्ध हुई। यह नाटक उनके तीन नाटकों में अच्छा माना गया।

एक कम बजट का नाटक खेला गया उत्तर प्रदेश के 'स्कूल आफ एक्टिग' की ओर से श्रीराम सेंटर के तलघर में। यह संस्कृत नाटक का हिंदी अनुवाद था। नये कलाकारों को लेकर यह नाटक मंचित किया गया। सेट के नाम पर भी केवल संकेतों से काम लिया गया। लेकिन सैट के न होने से नाटक के प्रवाह में कोई अवरोध नहीं आया। बिना किसी की सहायता के पाठक जी ने अपने बूते पर यह नाटक किया। वे इस तरह के अनेक नाटक करते रहते हैं।

भारतीय मान्यता है कि झूठा अभिमान बेकार है। इससे मनुष्य को केवल कष्ट ही होता है। जैसे उस नाटक के नायक को झेलना पड़ा। वह अपनी ससुराल का रास्ता नहीं जानता था, लेकिन किसी से पूछने में भी अपना अपमान समझता था। किसी तरह ससुराल पहुंच गया, कि गांव के बाहर ही दिन छिप गया। अब अगर कोई उसे हाथ पकड़ कर ले

जाना चाहता तो वह उसे डांट देता कि मुझे क्या दिखाई नहीं देता? और इसी कारण एक गड्ढे में रात बितानी पड़ी। रात को सोते समय भी उसने किसी को आवाज नहीं दी और लघुशंका के लिये बाहर चला गया लेकिन लौटते समय जमीन पर सो रहीं अपनी पत्नी व सास पर गिर पड़ा। शोर हुआ और अंधेरे में सिपाहियों ने पकड़ कर इतना पीटा कि उठने योग्य नहीं रहा। यह सब झूठे अभिमान के कारण हुआ।

राष्ट्राय नाट्य विद्यालय के विद्यार्थियों ने भवभूति का नाटक उत्तर रामचरित का हिंदी में खेला। लेकिन नाटक अपना प्रभाव नहीं छोड़ सका। दर्शकों को आशा थी कि इसमें भव्य सेट होगा, चमक-दमक भी अच्छी होगी। लेकिन वह एक प्रयोग के कारण फीका रहा। फिर उस नाटक में ऐसे दृश्य भी दिखाये गये जो भारतीय दर्शकों के गले नहीं उतर सके। मंच पर होने वाले अनेक विफल प्रयोगों में से यह भी एक विफल प्रयोग ही था। भारतीय हीरो की तरह अपनी गोदी में सुलाता है, फिर एक नाटक में सीता द्वारा आत्महत्या करते हुए देखकर दौड़ पड़ता है। मंच पर बाल नाटकों की भी धूम रही। इसी क्रम में एक नाटक सोने का सिक्का खेला गया। यह एक पौराणिक कथा के आधार पर था। इसके निर्देशक थे वागीश कुमार सिन्हा। यह नाटक भी भारतीय संस्कृति के दिग्दर्शन कराता है। नाटक एक ऐसे परिवार की कहानी है जो गरीब है। एक बेटा है जो किशोर वय प्राप्त होने पर भी शिशुओं जैसी हरकतें करता है। मां-बाप गरीब हैं। ठीक से भोजन भी नहीं मिलता। एक दिन उसे कहीं एक सोने का सिक्का मिल जाता है। बालक सोचता है—मैं कोई अनमोल चीज इससे खरीदूंगा। जिसको पता चलता है वही उससे वह सिक्का झपट लेना चाहता है।

तभी उसे एक बंदर वाला दिखाई देता है। बालक उस मदारी से बंदर खरीद कर घर ले आता है। वह बंदर मनुष्यों की भाषा में बोलता है। बंदर उसे जंगल के खंडहर से चाहे जब सोने के सिक्के लाकर देता है। उसी के कारण उसका व उसके माता-पिता का भाग्य बदल जाता है।

नाटक की विशेषता यह थी कि दर्शक बच्चों को उसमें सब कुछ करने की छूट थी। वे नन्हें दर्शक हंस रहे थे, तालियां बजा रहे थे, गाना भी गा रहे थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे फल और टाफियां भी खा रहे थे। बाल रंगमंच पर इतना आनंद बच्चों ने नाटक देखते हुए शायद पहली बार उठाया होगा। □

सहचर है समय

चंद्रकला त्रिपाठी

"यह एक वर्तुल जिंदगी थी, जिसमें तमाम चीजें एक दूसरे में समाई हुई थीं। जिंदगी खानों में बटी हुई नहीं थी।"

ये पंक्तियां रामदरश मिश्र की आत्मकथा के प्रथम खण्ड की हैं। उनकी आत्मकथा के चारो खण्ड 'सहचर है समय' के अंतर्गत एक साथ आ गये हैं। ये चारो खण्ड अलग-अलग लिखे गए और प्रकाशित भी हुए, इसलिए स्वाभाविक है कि इनकी अंतर्वस्तु के कसाव में, वर्णन की त्वरा में और प्रस्तुति की व्यवस्था में किंचित भिन्नता की स्थिति बनी। यह स्थिति इसलिए भी बनी कि प्रत्येक रचनाकार की अपनी कुछ अनुकूलताएं होती हैं, अपने कुछ चुनाव होते हैं। रामदरश मिश्र के रचनाकार को देखा जाए तो वहा आज भी 'गोर्रा' और 'राप्ती' के मनमाने जल के साथ-साथ अपने को सधाता उनका गांव डुमरी मिलेगा, वहां के लोग-बाग, खेत-बगीचे, भूत-प्रेत, देवी-देवता, बाढ़-महामारी, फागुन-चैत, उत्सव-त्यौहार, गीत और संस्कार मिलेंगे और मिलेगा एक निपट देहाती मन जो छूटते ही कहेगा—'हम पूरब से आये हैं।'

यही कारण है कि आत्मकथा वहां तक सघन रूप से सर्जनात्मक है जहां तक इस गांव घर की बातों, स्मृतियों और पदृश्यों का भराव लेखक को मिलता गया है। जैसे-जैसे लेखक का व्यक्तिगत संघर्ष अपनी जगह लेता है, आत्मकथा में तत्परतापूर्ण ब्यौरों की प्रधानता बढ़ती जाती है। अनेक नाम और अनेक घटनाएं, जल्दी-जल्दी लेखक की आत्मकथा में झांकते हैं और ओझल हो जाते हैं। वस्तुतः आत्मकथा का भी अपना एक अनुशासन होता है। इसमें स्थान पाने वाले व्यक्तियों, वस्तुओं, घटनाओं और परिदृश्यों की सार्थकता इसी बात में होती है कि वे अपनी उपस्थिति से लेखक के अभीष्ट आशय को कितना अर्थवान और स्पष्ट बना पाते हैं। प्रारंभिक दो खण्डों तक लेखक में यह सजगता रही है किंतु बाद में उसकी डोर ढीली पड़ती गयी है। लगता है कि वह अनुभवों और स्मृतियों के भारी प्रवाह में पड़ गया है। रामदरश मिश्र की आत्मकथा उत्तर प्रदेश के एक सर्वथा पिछड़े हुए आर्थिक और प्राकृतिक आपदाओं से जर्जर गांव 'डुमरी' से शुरू होकर देश की राजधानी दिल्ली में टेक लेती है। 'जहां मैं खड़ा हूं' से प्रस्थान लेते हुए वह कहा है कि यह उसकी कथा होने से ज्यादा उस परिवेश की गाथा है जहां उसके व्यक्ति और रचनाकार के संस्कार निर्मित हुए।

किसी भी रचनाकार के लिए उसकी आत्मकथा से बढ़कर चुनौती और उससे बढ़कर

थाती कोई दूसरी नहीं होती। सब कुछ लिखने के बाद भी एक बड़ी बेचैनी शेष रह जाती है। हर हालत में 'खुद' को लिखने की बेचैनी। यही रचनाकार व्यक्ति का मुक्तिपथ है। इसे औरों के बहाने लिखा जाए या अपने बहाने, इसका लिखा जाना जरुरी होता है। रामदरश मिश्र के लेखक की भी यही बेचैनी थी। इस कथा की पंक्तियों में खुलने के लिए उसका व्यक्ति उतना बेचैन नहीं था जितना वह परिवेश जिसने उन्हें अनुभवों की अद्‌भुत पोटलियां सौंपी और सौंपी वे छोटी-छोटी वेदनाएं जो धीरे-धीरे बड़ी होती गयीं तथा एक संवेदनशील लेखक की सबसे कीमती चीज बनती गयीं। देखना सीखते ही लेखक ने चारों ओर अपनी छोटी सी दुनिया देखी, घर-परिवार, संगी-साथियों, खेत-खलिहानों, नदियों-कछारों की वह करीबी दुनिया जो धीरे-धीरे फैलती और जटिल होती गयी। जिंदगी का गणित कभी सीधे, कभी उलझे हुए हलों में उतरता गया। जीवन-संघर्ष ने भी कभी शक्ति दी तो कभी आहत किया। कभी कुछ जोड़ा तो कभी बहुत कुछ तोड़ दिया। आत्मीय जन कई-कई कदम साथ चले, अनात्मीयों ने कई रास्ते बंद किये। सुख-दुःख का हिसाब संतोष के बटवारे से ही बराबर हो पाया। व्यक्ति रामदरश मिश्र को प्यार करना जानने वालों का प्यार मिला। साहित्यकार रामदरश मिश्र को पाठकों और निर्कुण्ठ आलोचकों का व्यापक स्वीकार। कुल मिलाकर जिंदगी ने भरी-पूरी टेक ली मगर इस पूरी यात्रा के उतार-चढ़ाव तो थे और उनका देना पाना भी।

आत्मकथा के प्रथम खण्ड में लेखक के किशोर व्यक्तित्व की रेखाएं हैं। यह व्यक्तित्व भावुक और जीवन के तमाम रंगों के प्रति उत्सुक है। परिवेश की कठिनाइयाँ उसे मर्माहत करती हैं। जीवन को वह निर्दोष फूलों की तरह खिले हुए देखना चाहता है। निम्नवर्गीय जीवन के दुखते हुए सवाल उसे हैरान करते हैं। इनके दुःखों से उसे गहरा अपनापा है। यह अपनापा उसे अपने भोले और सैलानी पिता से विरासत में मिला है जो इस जीवन में रचे-बसे हैं। इस विलयन से ही लेखक को अभावों में भी स्वाभिमान पूर्वक जीने की सीख मिलती है। यहीं से उसकी प्रगतिशील चेतना सी निर्मित हुई जिसके द्वारा वह जीवन और साहित्य को उसकी वास्तविक प्रक्रिया में देख पाया। वैरागी चित्त वाले बड़े भइया, हरफनमौला मझले भइया, कर्म और संगीत की लय में रची-बसी स्वाभिमानिनी मां, अपनी-अपनी मस्तियों में बेखुद संगी-साथी और प्रकृति के तमाम-तमाम रंग इनसे भरपूर होकर लेखक की एक बेहद प्यारी दुनिया बनती है जो पीड़ाओं से तार-तार है मगर आत्मीय है। 'जहां मैं खड़ा हूँ' में लेखक ने इसे गहरी ललक के साथ लिखा है। यहां प्रकृति के गहरे जुड़ाव से उसके साहित्यकार का सौंदर्य बोध निर्मित होता है और गांव की जिंदगी और लोगों के चरित्र की विलक्षण विविधता उसे चरित्रों को उनकी सूक्ष्मता में जानने की दृष्टि दे जाती है। 'जहां मैं खड़ा हूं' में जिन चरित्रों को लेखक ने आकार दिया है उनमें बच्चा बाबू, नरेश भाई, भिरखू चाचा, कन्नू भाई, पोलई हरिजन, बेचू भाई, छेदीराय के साथ-साथ अपने दर्द की मस्ती में डूबा भोला सुखराम, गांव भर की मंगल कामना का साकार रुप सुखदेई बुआ, आदि के चरित्र अनूठे हैं। इन चरित्रों की मानवीय गमक को अपने भीतर संजोये लेखक जिस

देखे-अनदेखे रास्ते तक चल पड़ता है, उसे नाम देता है—'रोशनी की पगडंडियां।'

ये पगडंडियां 'बनारस' के आत्मीय रास्तों तक लेखक को ले जाती हैं। इस खण्ड में ढरसी स्कूल के राष्ट्रभाषा विद्यालय से काशी हिंदू विश्वविद्यालय तक की यात्रा का वर्णन है। यहां युवक रामदरश मिश्र की काव्य प्रतिभा उठान पर है। ये दिन जिंदगी के बड़े संघर्षों की तैयारी के दिन हैं। उसके व्यक्ति की भावुकता थोड़ी झर गयी है। उसकी जगह पर चीजों को ठीक से जानने का विवेक रूप ले रहा है। नये संगी-साथी, नई गतिविधियां और नये संकटों की संभावनाएं बन रही हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह, शंभुनाथ सिंह, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, श्रीशकुमार जैसे सुहृद हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे गुरुजन। जिंदगी के इन पृष्ठों पर पत्नी भी साथ है। उसके संवेदनशील मन को सुख-दुख प्रदान करने वाले अनेक प्रसंग हैं किंतु डुमरी गांव की बेहद कठिन जिंदगी का अभ्यस्त मन इस संकुचन और फैलाव से जीना सीखता है। त्रिलोचन जी बनारस को भी एक किस्म का देहात ही मानते हैं और संभवतः यह सही भी है क्योंकि बनारस ने रामदरश मिश्र के भीतर का वह सब कुछ बना रहने दिया जो उनका निजी था, विशिष्ट था और मानवीय था।

तीसरे खण्ड को लेखक ने नाम दिया—'टूटते बनते दिन'। इस खण्ड में उसका आत्मसंघर्ष बहुत कठिन हो उठा है। आजीविका का सवाल अपनी समूची निर्ममता के साथ सामने आता है। उत्तरदायित्वों से भरे इस कठिन पथ पर पांव बडी मुश्किल से आगे बढ़ पाते हैं। यहां यात्रा बनारस से गुजरात तक की है। बनारस अब अपनी आत्मीयता के बावजूद 'सवाल' हो चला है। स्पष्ट-अस्पष्ट प्रतिद्वंद्विता हैं। नया समाज और नये सामाजिक संबंध हैं। बढ़ता हुआ परिवार और उसकी जिम्मेदारी है। भीतर तक महक जाने वाले सुखों की राशि धीरे-धीरे घट रही है। संघर्ष पथ की संभवतः यही नियति होती है। आत्मकथा के इस खण्ड की महत्वपूर्ण बात लेखक की निरंतर दृष्टिवान होती हुई साहित्यिक सक्रियता है। अनेक साहित्यकारों और चिंतकों से उसकी अंतरंगता बनती है। साहित्यिक गतिविधियों में भागीदारी बढ़ती है और वह एक समर्थ रचनाकार के रूप में उभरने लगता है। उसके लिए यह प्रसन्न साहित्यिक वातावरण है जिनमें सहमतियां और असहमतियों के मूल में व्यक्तिगत कुण्ठाएं काम नहीं करतीं। स्वस्थ आपसी संवाद है। यह वह जमीन है जहां उसके सभी समकालीन साहित्यकार संगी अपनी जड़ें पकड़ रहे हैं। दृष्टि-संपन्न हो रहे हैं। अभाव उन सबके जीवन का प्रमुख भाव है। यहां आकर लेखक को अभाव का स्वर कुछ बदला हुआ लगता है। वह लिखता है—"आर्थिक अभाव और तज्जन्य स्थितियां बचपन में भी झेली थीं किंतु तब मैं उत्तरदायित्व से मुक्त था और जैसा था वैसा रह लेने में कोई कुण्ठा नहीं व्यापती थी किंतु अब तो बीबी और बच्चे का भार मेरे ऊपर था।"

बच्चा था हेमंत। जो प्रायः बीमार रहता था। बाद में तो उसकी बीमारी ने लेखक दंपत्ती को मार्मिक निरुपायता की परिस्थितियों में भी डाल दिया। वह भी परदेस में। तीसरे खण्ड में लेखक के व्यक्ति और रचनाकार का वर्गीय आधार स्पष्ट हो जाता है। सोच और संवेदना की उसकी प्राथमिकताएं तय हो जाती हैं। द्वंद्व-अंतर्द्वंद्व और निर्णय का स्वभाव साफ

हो जाता है। टूटते बनते दिन की यात्रा गुजरात तक की है। गुजरात में कुछ दिन लेखक प्रवासी की पीड़ा झेलता है। अपरिचय का दबाव उसे और आहत करता है मगर जल्दी ही इस प्रदेश का स्वागत उसे जीत लेता है। अपने व्यक्ति का स्वीकार और अपने रचनाकार की ख्याति उसे संतुष्ट करती है। नये आत्मीय संबंध बनते हैं। नयी चुनौतियों और विपत्तियों से भी उसे टकराना पड़ता है। हर बार मनुष्यता में उसका विश्वास और अडिग होता है। गुजरात के अनुभव लेखक के रचनाकार को अत्यधिक संपन्न करते हैं। यहां जिंदगी का एक अछूता आयाम वह देखता है और समझता है। जीवन के अंतर्विरोध एवं असामंजस्य का बोध उसके लेखक की शक्ति बनता है। अपने सारे जुड़ावों के बावजूद लेखक यहां प्रवासी है। और जिंदगी की जरूरी सहूलियत के लिए गुजरात से भी विदा लेता है। अब उसका गंतव्य है—दिल्ली।

दिल्ली की गाथा 'उत्तरपथ' की महागाथा है। यहां संघर्षपथ की मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। संवेदनशील मन का बोझ भी घना होता जाता है। प्रतिकूलताएं पूरी निष्ठुरता से अपनी शक्ति आजमाती हैं। वस्तुतः 'उत्तरपथ' लेखक के व्यक्ति और रचनाकार की अग्नि परीक्षा है। सम्मान-असम्मान, सुरक्षा-असुरक्षा, स्वीकार अस्वीकार का द्वंद्व यहां तीखा हुआ है। अनेक बार उसके पांव उखड़ते हैं किंतु धीरे-धीरे दिल्ली जैसे महानगर से भी आत्मीयता की एक लय उठती है और उसे थाम लेती है। 'आत्मकथा' के इस हिस्से में लेखक अपनी एक-एक स्मृति को जगह देता है। अपना परिवार, मित्रों का परिवार, साहित्यिक मित्र और शिष्य, सामान्य और असामान्य घटनाएं सब उसकी दुनिया का अनिवार्य हिस्सा लगते हैं। "दिल्ली का दौर उसके साहित्यकार की ख्याति का भी दौर है। यह समय कहानी और कविता के उन कुख्यात आंदोलनों का है जब आयातित प्रकार की विचारधाराओं और कला मूल्यों के साथ साहित्य की राजनीति करने वालों ने अपने-अपने कठघरे बनाये। लेखक ने इस प्रकरण को पूरी तटस्थता से देखा है। अपने रचनाकार को कभी-भी उसने इन हलचलों के प्रति उत्साहित नहीं पाया। उसका रचना संसार अपनी विश्वनीय पूंजी के प्रति निश्चित था।

'उत्तर पथ' में लेखक अपनी पूरी पूंजी को अपने पाठक के साथ बांटना चाहता है। प्रत्येक परिचय-अपरिचय, स्मृति-विस्मृति को दोहराना चाहता है। इस अंश में वर्णन का प्रवाह संयमित है। वस्तुतः यहां तक आते-आते लेखक के लिए अपनी जिंदगी उत्सुकता पूर्वक देखने की चीज नहीं है। अपितु सुखपूर्वक जीने की चीज है।

रामदरश मिश्र की आत्मकथा से गुजरना उनके पाठक के लिए अत्यंत सुखद है। यहां उसकी न केवल अपने प्रिय लेखक से निर्बाध निकटता बनती है अपितु तमाम कथाओं और चरित्रों की विविधता और विलक्षणता का रहस्य भी हाथ लगता है। रामदरश मिश्र की कथाओं के नायकों की सकारात्मक प्रतिज्ञाओं की शक्ति भी यहीं पहचानी जा सकती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति और समाज के आदर्शीकरण की चिंता रामदरश मिश्र के नायकों की चिंता बाद में बनती है उससे बहुत पहले यह उनके व्यक्ति और रचनाकार की चिंता है। मानवीय मूल्यों से विचलन की किसी भी परिस्थिति को लेखक क्षमा नहीं कर

पाता। स्त्री-जीवन की यातनाओं के प्रति उसमें गहरी पीड़ा है। उसने अभाव के उस रूप को देखा और झेला है जिसमें मनुष्य बने रहना कठिन ही नहीं असंभव होता है और वह भी केवल दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के कारण।

'आत्मकथा' आत्मकथाकार की होती है। इस तर्क से लेखक का जो व्यक्तित्व उभरता है वह लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोकस्मृति से भीतर तक गमकता हुआ है। सरल निष्कपट व्यक्तित्व उसके अनुकूल पड़ते हैं, भीतरी छद्म और कुरुपताओं वाले व्यक्तियों या प्रसंगों को वह माफ नहीं कर पाता। यह अनायास नहीं है कि गांव की बेहद अभावग्रस्त जिंदगी का त्रास उसे कहीं से छोटा या पलायनवादी नहीं बनाता जबकि महानगर की सुविधाओं वाले जीवन की एक भी ठेस उसका बिना कुछ तोड़े नहीं जाती। इस प्रकार की बोझिल स्मृतियों के बावजूद लेखक ने अपने प्रति द्वेष या दूरी रखने वालों का हिसाब चुकाने की नीयत से आत्मकथा नहीं लिखी है। मनुष्य की जिंदगी के स्वाभाविक प्रवाह के गतिरोधों का विश्वसनीय चित्रण करने के लिए वह इनकी झलक देता है और उतना ही कहता है जितना जरूरी है। आत्मकथा में उभरता लेखक का 'मैं' निपट एकांत में नहीं है जिसकी नियति अवसन्न उदासी होती है। अपितु यह एक उदार मुक्त और परिवेश से गहरे संपृक्त 'मैं' है जिसमें व्यक्ति मन से ज्यादा समूह मन बोलता है। 'उत्तर पथ' के आखिरी हिस्से में 'व्यक्ति मन' का स्वर प्रधान हुआ अवश्य है किंतु यह अस्वाभाविक नहीं क्योंकि वहां वह अपनी कथा को समेट रहा है। उसके जीवन की जो रेखाएं यहा साकार होती हैं उसमें कछार की कठोरता है और कछार की सी रसमयता। निजी जीवन की बात कहते हुए वह पाठक से एक लगाव भरा संबंध कायम करता है। उसकी एकाग्र भागीदारी चाहता है। कुछ भी रहस्यमय या ओझल नहीं रखता। 'आत्मकथा' की शैली वर्णनात्मक है। लेखक अपनी क्षमता से इसमें कथा का उल्लास बनाये रखता है।

भाव और भाषा की सादगी लेखक की अपनी विशेषता है। अपनी आत्मकथा कहते हुए भी वे अपनी इस क्षमता पर बरकरार हैं। कथ्य के जो अंश उनके कवि को भाते हैं वहां वे खूब रमते हैं। परिवेश के चित्रण में जीवन भर देते हैं और जहां नहीं रमते वहां किसी तरह का संकोच किये बिना आगे बढ़ जाते हैं। जीवन का उल्लास और उदासी, प्रकृति की आत्मीयता और निर्भयता, व्यक्तियों के अंतर्विरोध और विलक्षणता, परिस्थितियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता, संगियों का स्नेह और विरक्ति, साहित्य जगत की अपेक्षा और उपेक्षा, सब कुछ को मिश्र जी ने उसकी विश्वसनीय द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में देखा है। यह गहरे आश्वस्त करने वाली बात है कि जिंदगी में सब कुछ पा लेना ही मायने नहीं रखता, बल्कि महत्वपूर्ण मानवीय सत्य के लिए संघर्ष करना ज्यादा मायने रखता है— जय-पराजय की किसी प्रकार की उम्मीद के बिना भी। इस संघर्ष पथ पर और कुछ मिले या न मिले अपार जनसमूह का प्यार और विश्वास जरूर मिलता है। □

सहचर है समय/डा. रामदरश मिश्र/किताब घर/अंसारी रोड दरियागंज/ नयी दिल्ली-2/मूल्य 250/- रु. मात्र/पृ. सं 600

आधुनिकता बनाम नारी अस्मिता का सवाल

महेंद्र कुमार मिश्र

आज की जिंदगी में, खास तौर पर खरीद फरोख्त वाली महानगरीय अर्थव्यवस्था में, विज्ञापन हमारी जानकारी का एक अपरिहार्य साधन बन गया है। हम चारो तरफ से विज्ञापनों से घिरे हुए हैं और उन्हीं के अनुसार चीजों का चयन करते हैं। एरिक फ्रोम (Eric Fromm) ने एस्केप फ्रॉम फ्रीडम (Escape from Freedom) में सामान्य जन की स्वाधीनता और चयन की स्वतंत्रता से घबराहट की बात कही है और निर्णय का यह बोझ किसी और पर डालकर दायित्व से मुक्त हो जाने की प्रवृत्ति का जिक्र किया है।

क्या चाहिए—यह निर्णय करने का अधिकार हमें है। किंतु शीतल पेय हो या दवा, उर्वरक हो या फर्नीचर, सूटिंग हो या प्लाईवुड—विज्ञापनों के चलते का यह निर्णय—यह चयन नितांत ऐकांतिक रूप से हमारा है? विज्ञापन से मुक्त जीवन की बात—लगता है जैसे सोची नहीं जा सकती। अब तो शुद्ध गंगाजल भी कहां और कैसे मिलेगा—यह भी विज्ञापन ही हमें बताते हैं।

किंतु कितने लोग विज्ञापन की भीतरी दुनिया से परिचित हैं? इस उद्योग की आंतरिक संरचना, उसमें लगे हुए लोग, उनकी जीवन पद्धति और आपसी संबंधों की संश्लिष्टता, दांवपेंच, उठापटक, प्रतियोगिता, सफलता-असफलता और निराशा के बीच भटकते हुए इंन्सान—कलाकार, संपादक, लेखक, उद्घोषक, शरीर, आवाज और हुनर बेचने वाले हुनरमंद—इस अजीबो गरीब दुनिया की अंतरंग तस्वीर हमें मिलती है चित्रा के ताजा उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में। इस आधारभूमि पर इतनी तफसील से लिखा गया संभवतः यह पहला उपन्यास माना जा सकता है।

किंतु विज्ञापन उद्योग की आंतरिक संरचना का ज्ञान कराना उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। मौजूदा समाज में नारी स्वातंत्र्य—उसका अधिकार बोध और अपनी अलग पहचान—अपनी अस्मिता स्थापित करने की लड़ाई ही दरअसल उपन्यास की आधारभूत जमीन है। यह तो लेखकीय ईमानदारी का तकाजा है कि कथाकार ने कथावस्तु को उस फलक पर उतारा है जो विशद वैयक्तिक अनुभव और सर्वांगीण अभिज्ञता का इलाका है। जेन ऑस्टिन की तरह उन्होंने इस दायरे से बाहर कदम न रखने की सतर्कता बरती है और इस प्रकार अपनी कृति को कथा लेखन की श्रेणी में अलग खड़ा किया है।

कहानी अंकिता की है जो महानगर बंबई में एक संघर्षमयी सृजनशीलता की तलाश के लिए आई है। उसकी पृष्ठभूमि में है एक शहर-सुदूर मालवा का एक शहर जिससे

उसकी चेतना अविभाज्य रूप से जुड़ी है। संपूर्ण उपन्यास में अंकिता की चेतना, उसके मानस और उस पर गहरे अक्स उस परिवेश का प्रभाव राख मे ढकी आग सा आँच देता रहता है। मां की सान्निध्य की ऊस्मा और बड़े भाई का संरक्षण भरा प्यार दोनों ही अंकिता को जीवन और उसके देशकाल से बांधे रहते हैं जिसे मां के शब्दों में वह 'विद्रोहिणी' छोड़ आई है। वैसे चाहकर भी कोई अपना पिछला जीवन भूल नहीं सकता। परिवर्तन के बावजूद निरंतरता के बोध के लिए भी यह जरुरी है। इसलिए भैया की चिट्ठी का इंतजार है, मां के मोतियाबंद के ऑपरेशन की चिंता है, भाभी का सातवां महीना और रीना की चिता है। "घर पूरे सफर भर उससे लिपटा चलता रहा और अपने उस छोटे से कमरे में भी वह उससे अलग नहीं हो पाई थी।"

इस काल से जुड़ी इस अंचल की बहुत सी यादें हैं। बिंब हैं, कही हुई बातें हैं और उन सबके बीच सबसे ऊपर मां का स्वाभिमानी स्नेहमय व्यक्तित्व है जो अंकिता को अपनी हल्की गरमाहट से भरे रहता है। वहां से वह विश्वास भी पाती है और जुझारूपन की प्रेरणा भी। "अम्मां चौके से बाहर चूल्हे पर दूध की कड़ाही चढा, चैलों के निकट पानी से भरा कटोरा रख चेतावनी देकर उसे बैठा देतीं कि दूध उफान पर आए तो तुरत कड़ाही उतार लेना" "रोज-रोज दूध का गिरना दलिद्दर की पैठारी है बिट्टी।" अंकिता ठीक ही सोचती है कि, "भीतर इतना कुछ अमूल्य पोटलियों में गठियाया हुआ पड़ा रहता है, जिसे उस भीतर को सौंप, स्मृतियों में सीलकर विस्तृत कर देते हैं हम . कभी अनायास किसी और प्रयोजन से किसी अन्य सूत्र को टटोलती हुई उंगलियां जब अचानक इन पोटलियों में से किसी एक से टकरा जाती हैं और . .... उसकी गाठ अनायास ढीली पड़ जाती है तब उसके कुछ होने का अहसास आंखें खोलता है।

अंकिता की चेतना की उंगलियां इन पोटलियों से अक्सर टकराती रहती है। इससे एक तरह की आंचलिकता का सृजन होता है जिसका रूपाकार स्पष्ट नहीं है। किंतु जिसका व्यापक प्रभाव अंकिता के सोच की दिशा देता है उसमें सरौते से महीन सुपारी कतरने में संलग्न मां है और "तुम्हारे लिए मुंगौड़ियां तुड़वाकर रख ली हैं, रीना से मिर्च भी भरवा रही है। वह कह रही थी सत्तू वह खुद ही चकिया पर पीसेगी जाने से पहले"। इस अंचल में "लड़िता में विदा विदाई, आना-जाना होता था। ऊसर बंजर से भरे कच्चे रास्ते। गोइयों की दनकभरी दौड़—जाड़ों में कुएं का ताजा खिंचा पानी गुनगुने घाम सा शिथिल देह को ऊष्मा से भर देता है।"

किंतु इसी शहर—इसी अंचल—इसी संस्कृति से उसने विद्रोह किया है। यहां की संकीर्णता, नारी की पराभवपूर्ण अधीनता, अशिक्षा, छिछोरे और घिनौने स्वार्थों की लड़ाई और अपना जीवन अपनी इच्छा से न जी पाने की विवशताभरी आकुलता उसके व्यक्तित्व को बांध नहीं पाती। वह उस शहर में कैसे रह सकती है ? "मगर उस शहर को जो उसका अपना जन्मस्थान है उसे उसके हर व्यक्तिगत से लेना देना है और ऐसे खुरचते अपनत्व में वह जी नहीं सकती जिसमें जीना छाती पर निरंतर धंस रही बल्लम की नोक सा यह अहसास

देता हो कि इर्द गिर्द बिछी नजर उसे देख नहीं रही, कपड़े खींच रही है।'' वह भला उस घर की हदूद के कैसे बंध सकती है जिसमें अम्मा की मृत्यु के बाद—तुरंत बाद बंटवारे और छीना झपटी का संघर्ष होता है।

किंतु ''अम्मा,' के न रहने पर देहरी'' भले न रही हो फिर भी चलते समय अंकिता के ये शब्द ''मुझे इस घर से अलग न करो—सिर्फ यही तो घर है मेरे पास ... '' इस बात के साक्षी हैं कि वह जिंदगी के इस अवसादग्रस्त अध्याय से निस्संग होकर भी उससे टूटा नहीं है। बिछोह का दुख और उसे खोने का अहसास उसके भविष्यत को अनुप्राणित करता है और उसके जुझारूपन को एक पैनापन प्रदान करता है। इस दौर में मां से बिछुड़ने की घटना है—वह मां जो अपनी पुरानी मानसिकता और पारंपरिक मूल्यों का प्रतीक होने के बावजूद अंकिता की प्रेरणा का मूल स्रोत है। अंकिता के चेतन में मां का व्यापक स्वरुप अपू के जीवन में ''पथेर पांचाली'' की सर्वजया के समान संघर्ष, स्वाभिमान और अपराजेय जिजीविषा का जीवंत प्रभामंडल है। उसी के आलोक से दीप्त है उसकी रचनाधर्मिता और स्वाधीन अस्तित्व को कायम करने की उसकी उद्दाम आकांक्षा।

सुधांशु के साथ का जीवन अंकिता की चेतना में गुंथा हुआ वह नीला तंतु है जो उसे निरंतर अपनी आत्मनिर्भरता और अस्मिता प्रमाणित करने की दिशा मे खींचता है। यह एक अर्थ में गाथा का अंतराल है जो देहरी पर रखे दीपक की तरह उसके व्यक्तित्व के विगत और अनागत को प्रकाशित करता है। यह अनुभव उसके लिए प्रकाश है जिसकी अग्नि परीक्षा से उसका ''स्व'' निखर उठता है और मुखर एवं गतिशील होता है। ''यह जो अपने आपको उसने पुनर्जन्म दिया है—अपने गर्भ में अपने जन्म की प्रसव-पीड़ा झेली है'' सुधांशु को प्रेमकर, उससे विवाह कर उसने परंपराबद्ध परिवार और समाज से विद्रोह किया था। किंतु वह तो शुरुआत थी। वह तो घर को जीना चाहती थी, बर्दाश्त करना नहीं (पृ. 18) उनमें वैचारिक और जीवन दर्शन का मतभेद स्थूल और सूक्ष्म की भिन्नता ही मूल रूप से संबंधों में विघटन लाती है। किंतु अंकिता ऐसा नहीं सोचती उसका ख्याल है की ''वैचारिक मतभेद उनके दांपत्य की ऊष्मा को चाटता घुन नहीं था, घुन का उसका जबरन आरोपण। सुधांशु के भीतर के अहंकारी पुरूष की निरंकुश प्रवृत्ति।'' हरींद्र की अंतर्दृष्टि भिन्न है, ''अंकू से जब पहली बार सुधांशु ने उसे मिलवाया था, मन में पहली प्रतिक्रिया उपजी थी कि इस लड़की के भीतर जो सर्वाधिक आकर्षण करने वाला गुण है वह है उसके व्यक्तित्व के रोम-रोम से फूटता हुआ आत्म विश्वास और एक ऐसी स्निग्ध अंतर्मुखी खामोशी जो अपने मौन की भाषा में इतनी मुखर है कि उससे संवाद स्थापित करने के लिए सामने वाले को उतना ही गहरा, सूक्ष्म और समर्थ होना आश्यक है।'' ऐसी स्थिति में सुधांशु और अंकिता से बीच संवाद कहां संभव था? वह न अपनी वैचारिक मुक्ति की युयुत्सा पर प्रहार सहन कर सकती है और न अपनी सृजनशीलता पर। ''सुधांशु ने उसकी कविताओं की कापी चिथड़े-चिथड़े कर कूड़ेदान में फेंक दी थी ... उसे लगा था वह कविता की कापी के चिथड़े नहीं है, उसके स्व को चिंदी-चिंदी कर कूड़ेदान में फेंक

दिया गया है और अब वह अपने होने को और अधिक अनदेखा नहीं कर सकती।" और उसके "स्व" ने विद्रोह किया "तुम्हारी ऐयाशियों और ज्यादतियों को सती साध्वी बनी मांग में सजाये इस मुगालते में न रहना कि मैं स्त्रीत्व की पूर्णता का भ्रम जीती रहूंगी—लो इसी वक्त यह रिश्ता खत्म"। अंकिता का यही विद्रोह उसे सही अर्थ में 'विद्रोहिणी' बनाता है।

किंतु सुधांशु को क्या वह अपनी चेतना से पूरी तरह अलगकर पाई है? और कथाकार ने नारी स्वातंत्र्य की आदर्श प्रतिमा गढ़ने में इस सत्य को नहीं नकारा है और उसे सहज रूप में स्वीकार किया है। हरींद्र की समझ में, "उसे कोई बात अतिरिक्त गहरे चोट करती है तो वह है किसी भी संदर्भ में सुधांशु का जिक्र .... बाहर से जो कुछ सधा, उबरा, निखर आया अनुभव हो रहा है उसके भीतर की तहें अब भी गीली हैं। सुधांशु सिर्फ उसका पति ही नहीं था, प्रेमी भी था।"

सुधांशु पर उसे विश्वास नहीं है। उसके जीवन दर्शन और उसकी मान्यताओं के प्रति (यदि कुछ है) उसके मन में वितृष्णा है। इसलिए सुधांशु के प्रति अंकिता ने उदासीनता ओढ़ ली है और उसके और अपने बीच उपेक्षा की यवनिका डाल ली है। कहती वह चाहे कुछ भी हो किंतु अपने आहत अभिमान की चोट को कुरेद कर, अपनी घृणा और वितृष्णा को सान देकर वह अपनी युयत्सा को उकसाती है। यह विषाक्त प्राणांतक अनुभव एक पैनी धार की तरह उसे संघर्ष के बहुआयामी जगत में समस्त बाधा बंधनों को छिन्न कर उसके प्राणों में आगे बढ़ने का हौसला बुलंद करता है। इसी पत्थर पर पैर रखकर वह बार बार पूरे आत्म विश्वास से विक्षुब्ध सागर में कूद पड़ती है।

अध्यापन के बाद विज्ञापन जगत में प्रवेश अंकिता के स्वयं को खोजने और स्थापित करने की दास्तान है। सरस्वती कालेज की अस्थायी नौकरी से शुरू होकर जीविका, स्थायित्व और स्वयं को खोजने की यह व्यथा कथा माध्यम एजेंसी की सर्वाधिकार संपन्न सचालक बनने तक ही नहीं चलती बल्कि उससे आगे अपनी एजेंसी की संभावनाओं के खुलते हुए दरवाजों तक हमें लाती है।

किंतु इस सबके बीच बहुत कुछ घटता है और कई पात्रों से हमारी मुलाकात होती है। इसके पीछे जूमके (Zoom) चित्रों की भांति स्पष्ट उभरते चेहरों की पृष्ठभूमि के रूप में महानगर का जीवन है जो फोकस और "डेप्थ आफ फील्ड" (आयाम की गहराई) से बाहर होने के कारण धुंधला और अस्पष्ट है। पूरब से किराए पर लिया उसका आबंटित मकान, लोकल ट्रेन, भीड़भाड़, ट्रैफिक, बंबई का मानसून, हाजी अली या बरसाने का समुद्र तट—सभी जैसे एक मंच की सृष्टि करते हैं जिस पर प्रमुख पात्र अपनी भूमिकाओं में साफ नजर आते हैं। बंबई के जीवन और वहां के परिवेश से उसके अंदर एक सहम जाने, डरने या अनाश्वस्त होने का भाव भी है ... "यहां की रफ्तार भरी जिंदगी उसकी मुट्ठी में नहीं आ सकती ... वह नहीं दौड़ सकती इस शहर के साथ "....बंबई डंक नहीं मारता—अजगर की भांति पूरा निगल लेता है" महानगर की निस्संगता—भीड़ के एकाकीपन और सहज मानवीय प्रतिक्रिया की शून्यता भी उसे विचित्र लगती है। जैसे ट्रेन से किसी के दुर्घटनाग्रस्त

होने की घटना। यह शायद इसलिए है कि महानगरीय जीवन के विभिन्न पक्ष उजागर करना और उसे फोकस में लाना उपन्यास का कथ्य नहीं है।

पृष्ठभूमि के रूप में ही, विश्वसनीयता के सृजन के लिए कई अन्य चरित्र भी हैं शेट्टी, किरपेकर, तिलक, वर्मा जैसे चरित्र किंतु परब और परिवार से भिन्न ये चरित्र कुछ अधिक स्पष्ट हैं। इनका इस्तेमाल कई स्थानों पर बहस के मुद्दों या विपरीत विचारों को टांगने के लिए खूंटी के रूप में भी किया गया है। गुहा साहब के प्रेमप्रकरण से नाटक और विज्ञापन जगत का एक विशिष्ट पहलू तो उजागर होता है, किंतु उसका इस्तेमाल चित्रा ने अंकिता द्वारा तिलक किरपेकर आदि की रसकही पर प्रतिक्रिया के रूप में अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए किया है। "ऐसी गोष्ठियों में क्या हम किसी समाधान पर पहुंच सकते हैं, सिवा चटखारे लेने के!" ....(46) अंकिता के अनुसार, "क्योंकि जहां करोड़ों लोग साथ रह रहे हों, अलग-अलग जाति धर्म और समाज के वहां सामूहिकता के जीवन मूल्य अनेक दबावों के चलते विभाजित हो गए हैं। व्यक्तिपरकता प्रमुख हो गई है ... जैसे कि आज हम ही इस मुद्दे पर अर्थहीन बहस कर रहे हैं। ये बातें जरूर उठती हैं ...

उपन्यास में चित्रित पात्रों के परस्पर संबंधों में आध्यात्मिक जैसी ऐंद्रिकता विहीन रहस्यवादिता है। यह एक सख्य मैत्री का अंतरंग भाव है जो संबंधों की भारतीयता की पावन धारणा है। अंकिता के अनुसार और जिसे वह पूरे उपन्यास में कायम करने में लगी हुई है। मेहता हरींद्र और नीता की तरह किंतु उनसे कहीं बढ़कर और एक हद तक अलग अंकिता के मन में सुरक्षा और संबल की अनुभूति पैदा करता है।

उपन्यास में वास्तव में मेहता, हरींद्र और सुधांशु—तीनों ही प्रतीकात्मक रूप से अंकिता के व्यक्तित्व से अनिवार्य रूप में जुड़े हैं। वे भावना, बुद्धि और देह के तीन आयाम हैं और अलग होने के कारण वे अंकिता के जीवन और उसके व्यक्तित्व को खंडित आयामों में जीने के लिए विवश करते हैं। यह विभक्ति अंकिता की अपनी सृष्टि है।

और इन तीनों के बीच है नीता—अंकिता की अंतरंग मित्र-सखी। दोनों विरोधी मान्यताओं और जीवन पद्धति के बावजूद भीतर कहीं बहुत गहराई से जुड़ी है। आब्जर्वेशन एडवरटाईजिंग की धोखाधड़ी की गलतफहमी के जरिये नीता के स्वच्छंद देहरत, पाश्चात्य विचारों से प्रभावित एक खूबसूरत लड़की की तस्वीर खींची है चित्रा ने। वह अपने सौंदर्य के बारे में सजग है और व्यावसायिक दुनिया से उसे कोई आपत्ति नहीं है। वह वर्जनाहीन जीवन जीती है और इस तरह अंकिता से पूर्णतया भिन्न और विपरीत विचार रखती है नारी स्वातंत्र्य के बारे में दोनों में नजरिये का बुनियादी फर्क है।

लगता है नीता की रचना अंकिता की विपरीत प्रतिच्छवि के रूप में की गयी है। इसीलिए मौलिक भिन्नता के बावजूद उनसे अभिन्नता है। वह संरक्षण भरे भाव से नीता का ख्याल रखती है। उसे आलू के परांठे बहुत पसंद हैं। वह कैसी चाय पीती है, कभी भी वह धड़ल्ले से आ धमकती है। बंबई की भाषा में वह "बिंदास" लड़की है और यही बिंदासपन शायद अंकिता को अनचाहे ही आकर्षित करता है। उसे नीता की ईमानदारी में

आस्था है "मैं जब ऐसा कहती हूं तो मेरा तात्पर्य सिर्फ तुम्हारी विचारशीलता के बंद किवाड़ों पर दस्तक देना भर है ताकि राजनीति को तुम समझ सको ... क्योंकि तुम निश्चित लड़ने में समर्थ हो .... दृष्टिपूर्ण संघर्ष में मेरी आस्था है।

अपने दर्शन को सही साबित करने और उसका वर्चस्व कायम करने के क्रम में लेखिका नीता के प्रति निर्मम हो उठी है। नीता के सुधीर गुप्त से संबंध के द्वारा वह उसके नजरिये में गुणात्मक परिवर्तन लाती है। वह भीतर से उसे चाहने लगी है—एक अधिकार बोध जागता है उसके अंदर। शायद संबंधों की भारतीयता यहां मुखर है, वह नीता की हालत को वर्जनाहीन जीने का परिणाम मानती है और जब सुधीर नीता को छोड़कर चला जाता है तो वह टूट जाती है। उसकी जिजीविषा समाप्त हो जाती है। पुत्री के जन्म की जोखिम से तो वह बच जाती है किंतु मानसिक रूप से वह क्षत-विक्षत हो जाती है और नीता आत्महत्या कर लेती है। शायद मोहभंग का मगरमच्छ लील गया उसे .. शायद देह के बूते पर टिका आत्मविश्वास देह का तिलस्म टूटते ही तिरोहित हो गया .. शायद वह बेहद कमजोर लड़की थी ... "

लगता है चित्रा का आग्रह अंकिता की विजय को स्थगित करना है। जैसे वह व्यावसायिक और वैचारिक दोनों धरातलों पर उसकी विजय पताका की अलम बरदार है। भोजराज जी "माध्यम" के मालिक हैं। उन्होंने ही अंकिता की प्रतिभा को पहचानकर उसे यह दायित्व सौंपा है किंतु वह समझौतावादी नहीं है और न स्वाभिमान छोड़ने को तैयार। अपनी कर्त्तव्य परायणता के बारे में वह जानती है, कहती भी है। किंतु अविश्वास होने पर तुरंत त्याग पत्र दे देती है। "उन्होंने उसे दायित्वपूर्ण अनुभव का सुअवसर प्रदान किया . . जीवन पर्यंत ऋणी रहेगी उनकी किंतु दुम हिलाते हुए नहीं। किंतु भोजराज स्वयं ही उसे मनाने घर आते हैं उसके उसकी गाड़ी लेकर, विजय उसी की होती है।

और नीता के मामले में भी। नीता को तो मरना ही है क्योंकि वह यदि जीवित रहेगी तो फिर अपनी बेटी 'भविष्य' की स्त्री को वह उन आदर्शों में कैसे ढाल सकेगी जिनका प्रतिनिधित्व अंकिता करती है। इसलिए जीत यहां भी अंकिता की ही होती है। 'नीता ने अपनी पूरी संपत्ति बेटी मानसी के नाम की थी और बच्ची और सपत्ति की देखभाल की पूरी जिम्मेवारी वह अंकिता को सौंप गई थी

यह उपन्यास रोचक है इसमें पठनीयता है। उपन्यास में एक प्रकार की आंचलिकता है, यह आंचलिकता भाषा, शब्दों के प्रयोग और परिवेश सभी में लक्षित होती है। इंदौर शहर से आई इस आंचलिकता में इंदौर के विषय मे विशेष कुछ नहीं है। उपन्यास की भाषा सशक्त और विषय के अनुरूप है जो कहीं-कहीं काव्यात्मक हो गयी है। उपन्यास के माध्यम से कथाकार ने नारी की अस्मिता और इयत्ता पर प्रश्न चिह्न लगाए हैं और उसकी अनिवार्यता पर ध्यान दिया है। ☐

एक जमीन अपनी/चित्रा मुद्गल/प्रभात प्रकाशन/चावड़ी बाजार/दिल्ली-110006/ प्रथम संस्करण 1990/मूल्य 100/- रुपए/पृ.सं. 255

पत्र-पत्रांश

'गगनांचल' का माखनलाल चतुर्वेदी अंक पाकर परम प्रसन्नता हुई। इस विशेषांक में 'एक भारतीय आत्मा' के संपूर्ण व्यक्तित्व, कृतित्व तथा सर्वतोमुखी कार्य कलापों के साथ औचित्यपूर्ण न्याय किया गया है। ऐसा विशेषांक सर्वथा दुर्लभ है। इस विशेषांक ने संदर्भ ग्रंथ का रूप धारण कर लिया है। इसकी सामग्री अत्यंत समृद्ध एवं स्तरीय है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', पचपेढ़ी, जबलपुर।

'गगनांचल' के निरंतर परिष्कृत स्वरूप को देखकर प्रसन्नता होती है। भारत की सांस्कृतिक सामासिकता और सार्वभौम मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा साहित्यिक एवं शोध परक कलामानों के साथ कर पाना उत्कृष्ट संपादन तथा गुणवत्ता का प्रमाण है।

लक्ष्मी नारायण शर्मा, भारत का हाई कमीशन
त्रिनीदाद, वेस्ट इंडीज।

'गगनांचल' के अंक मिलते रहते हैं। अत्यंत ज्ञानवर्धक एवं स्तरीय रचनाओं से इसके माध्यम से साक्षात्कार होता रहता है। मेरी शुभकामनाएं।

डॉ वशिष्ठ अनूप, हिंदी विभाग
गोरखपुर, विश्वविद्यालय, उ.प्र.।

'गगनांचल' का अंक मिला। इस अंक में पुस्तकों पर समीक्षात्मक लेख और ज्ञानेंद्र पति तथा कुमार अंबुज की कविताएं पसंद आयीं। सीताकांत महापात्र पर डॉ. विमल का लेख भी पसंद आया।

नरेशचंद्र, भुवनेश्वर, उड़ीसा।

'गगनांचल' भारत की धरती से जुड़ी भारतीय साहित्य, कला व इस धरती की भाषिक अस्मिता की पत्रिका है। यह पत्रिका राष्ट्रभाषा की प्रौढ़ता व परिपक्वता का खुला दर्पण है। राष्ट्रीय साहित्यिक क्षितिज को विश्व ऐक्य से जोड़ देना इसकी महती विशेषता है।

रामगोपाल परिहार
(अध्यक्ष हिंदी विभाग)
जे. एन. वी. हदगढ़ जि. क्योंझर
उड़ीसा-758023

इस अंक के लेखक

नर्मदा प्रसाद गुप्त

एम. ए. (हिंदी एवं अंग्रेजी) पी.एच-डी.। सेवानिवृत प्रोफेसर। बुंदेली लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान। देश की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में निरंतर लेखन। बुंदेलखण्ड के साहित्य पर विशेष शोध। बुंदेली लोक साहित्य पर चार पुस्तकें। बुंदेली लोक संस्कृति पर एक पुस्तक मुद्रण में। कई संस्थाओं से संबद्ध। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ द्वारा श्री मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार से सम्मानित।

संप्रति : संपादक, 'मामुलिया' त्रैमासिक पत्रिका एवं अध्यक्ष, बुंदेलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर। संपर्क शुक्लाना मुहाल, छतरपुर-471001, (म.प्र.)

डॉ. प्रेमशंकर

समीक्षक और कवि। सागर विश्वविद्यालय में हिंदी के आचार्य अध्यक्ष। भक्तिकाव्य, सांस्कृतिक अध्ययन, आधुनिक कविता और नयी रचना कविता पर विशेष कार्य। विदेशो में भारतीय संस्कृति साहित्य के अतिथि प्राध्यापक। प्रमुख प्रकाशन : भक्ति-काव्य की भूमिका, रामकाव्य और तुलसी, भक्तिकाव्य की चेतना, भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र, प्रसाद का काव्य, हिंदी स्वच्छंदता वादी काव्य, नयी कविता की भूमिका, सृजन और समीक्षा आदि।

संपर्क : बी-16, सागर विश्वविद्यालय, सागर-470003

डॉ. वेदज्ञ आर्य

मातृभाषा : तेलुगु।

शिक्षा : संस्कृत विशारद, संस्कृत शास्त्री, बी.ए. तक अंग्रेजी पंजाब विश्वविद्यालय। आलोचना की पुस्तकें। कविता-संग्रह भी। देश-विदेश की संगोष्ठियों में हिस्सा लिया।

संप्रति : अध्यक्ष (हिंदी-संस्कृत विभाग) सेंट स्टीफन कालेज, दिल्ली-110007

मनोरमा भटनागर

कथाकार और निबंधकार। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन। भारतीय शिल्प एवं कला संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण। दूरदर्शन के लिए वृत्त चित्र का निर्माण।

संप्रति : अध्यक्ष, चित्रकला विभाग महादेवी कालेज, देहरादून

डॉ. कुलदीपचंद अग्निहोत्री	भारत और भारतेतर छह देशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार पर काम। आलोचना की कुछ पुस्तकें। कनाडा में हिंदी की प्रगति के लिए काम किया। संप्रति : प्राचार्य, बी.बी.एन. कालेज चकमोह, हमीरपुर (हि.प्र.)
रामेश्वर शुक्ल अंचल	छायावादोत्तर प्रगीत कविता के प्रख्यात कवि, आलोचक, चिंतक एवं कथाकार। गीत विधा में मौलिक अवदान। तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणेता। संपर्क : पचपैढ़ी दक्षिणी सिविल लाइंस, जबलपुर
कुसुम चतुर्वेदी	एम.ए., पी.एच-डी.। हिंदी की सुपरिचित कथाकार। 'पड़ाव' उपन्यासिका जो बहुचर्चित हुई थी। हिंदी की ख्यात पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं। संप्रति : महादेवी महाविद्यालय, देहरादून में हिंदी विभागाध्यक्ष। संपर्क : 7/3, उम्ररोड, डालनवाला, देहरादून-248001
बलराम	नयी पीढ़ी के कथाकार। कहानियों के संग्रह। हिंदी लघु कथा-कोश का संपादन। इन्होंने लघु कथाओं को नये ढंग से स्थापित किया। पत्रकारिता में भी प्रखर दृष्टि। कथाकार के साथ-साथ निबंधकार और आलोचक भी। संप्रति : नवभारत टाइम्स (टाइम्स हाउस) नयी दिल्ली से संबद्ध
उपेंद्र रैणा	श्रीनगर (कश्मीर) में जन्मे युवा पीढ़ी के सुपरिचित कवि। हिंदीतर क्षेत्र से हिंदी साहित्य में पी.एच-डी. तथा श्रीनगर में हिंदी अध्यापन। संप्रति : आकाशवाणी विदेश सेवा प्रसारण, नयी दिल्ली में कार्यक्रम अधिकारी।
राजकुमार कुंभज	जन्म 12 फरवरी 1947। कविता की लगभग बारह पुस्तकें। कुछ कविताएं अनूदित। सभी पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं। संपर्क : 331, जवाहर मार्ग, इंदौर-452002
केदारनाथ कोमल	जन्म : 19 फरवरी 1931, मालेर कोटला शिक्षा : एम.ए. आठ कविता संग्रह एवं दो बाल साहित्य पुस्तकें। संपर्क : एल I/55-बी, डी.डी.ए. फ्लैट्स, कालकाजी नयी दिल्ली।

जयसिंह नीरज

जन्म 11 फरवरी 1929 राजस्थान में। बहुआयामी प्रतिभा के धनी। राजस्थान की सांस्कृतिक धरोहर पर पिछले 30 वर्षों से लगातार कार्य कर रहे हैं। 'राजस्थानी चित्रकला और कृष्णकाव्य, राजस्थान की सांस्कृतिक परंपरा', 'सृजन के विविध आयाम' तथा स्प्लैण्डर आफ राजस्थानी पेंटिंग' प्रमुख ग्रंथ हैं। कविता संकलन 'नील जल सोई परछाइयां', 'दुखांत समारोह', और 'ढाणी का आदमी' चर्चित संग्रह रहे हैं। राजस्थान अकादमी पुरस्कार 1985, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार 1986, और के.के. बिड़ला फाउण्डेशन पुरस्कार 1991 से सम्मानित
संपर्क : 7 ढ 26 जवाहर नगर, जयपुर, राजस्थान

रत्ना वर्मा

शिक्षा एम.ए. (समाज शास्त्र) एम.फिल. बैचलर ऑफ जर्नेलिज्म, शोधार्थी।
लेखन : कविता, व्यंग्य एवं यात्रा। पत्रकारिता, पेंटिंग, फोटोग्राफी में विशेष रूचि।
संप्रति : मुख्य उप संपादक, दैनिक 'अमृत संदेश' रायपुर (म.प्र.)
संपर्क : पार्क स्ट्रीट, चौबे कालोनी, रायपुर (म.प्र.) 492001

रामचंद्र चंद्रभूषण

नवोदित कवि। लोक गीतकार के रूप में इन्होंने अपनी पहचान बनायी है। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं।

डॉ. मनोहरलाल

गुलेरी-साहित्य को समकालीन कथा-धारा से जोड़ने में महत्वपूर्ण योगदान। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं।
संपर्क : बी-20, हिमकुंज, प्लाट नं. 8, सैक्टर 14, रोहिणी दिल्ली-110085

डॉ. मस्तराम कपूर

कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता, निबंध और बाल साहित्य की चालीस पुस्तकें।
पत्रकारिता में विशेष रूचि।
संपर्क : 79 बी, पाकेट-3, मयूर विहार, दिल्ली-110091

डॉ. राममोहन पाठक

वरिष्ठ लेखक एवं पत्रकार। पत्रकारिता पर विशेष कार्य। वाराणसी से प्रकाशित 'आज' से जुड़े रहे। समकालीन साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में विशेष शिरकत।
संपर्क : डी. 6/13 रानी भवानी गली, वाराणसी-221001

डॉ. प्रेमशरण शर्मा	लेखक, पत्रकार। हिंदी नाटकों में विशेष गति। आकाशवाणी से नाटकों का प्रसारण।
चंद्रकला त्रिपाठी	कविता और हिंदी समीक्षा क्षेत्र में विशेष कार्य। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं। संपर्क : 8 शिक्षक आवास, त्यागराज कालोनी, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय वाराणसी
महेंद्र कुमार मिश्र	अंग्रेजी में एम.ए.। प्रारंभ में आगरा कालेज और जबलपुर विश्व विद्यालय के अंतर्गत अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। हिंदी और अंग्रेजी के अतिरिक्त संस्कृत और बांग्ला का भी ज्ञान। मूलतः कवि। कविताओं के दो संग्रह। संप्रति : रेलप्रशासन में वरिष्ठ अधिकारी। संपर्क : डी-1/142, सत्यमार्ग, चाणक्यपुरी, नयी दिल्ली ☐